इस्लाम
की
जीवन-व्यवस्था

मौलाना सैयद अबुल आला मौदूदी

अनुवाद
डॉ० फ़रहत हुसैन

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम
(अल्लाह अत्यन्त दयावान और कृपाशील के नाम से)

1
इस्लाम की नैतिक व्यवस्था

मानव के अन्दर नैतिकता की भावना एक स्वाभाविक भावना है जो कुछ गुणों को पसन्द और कुछ दूसरे गुणों को नापसन्द करती है। यह भावना व्यक्तिगत रूप से लोगों में भले ही थोड़ी या अधिक हो किन्तु सामूहिक रूप से सदैव मानव-चेतना ने नैतिकता के कुछ मूल्यों को समान रूप से अच्छाई और कुछ को बुराई की संज्ञा दी है। सत्य, न्याय, वचन पालन और अमानत को सदा ही मानवीय नैतिक सीमाओं में प्रशंसनीय माना गया है और कभी कोई ऐसा युग नहीं बीता जब झूठ, ज़ुल्म, वचन भंग और ख़ियानत को पसन्द किया गया हो। हमदर्दी, दयाभाव, दानशीलता और उदारता को सदैव सराहा गया तथा स्वार्थपरता, क्रूरता, कंजूसी और संर्कीणता को कभी आदर योग्य स्थान नहीं मिला। धैर्य,सहनशीलता, स्थैर्य,गम्भीरता, दृढ़संकल्पता व बहादुरी वे गुण हैं जो सदा से प्रशंसनीय रहे हैं। इसके विपरीत धैर्यहीनता, क्षुद्रता, विचार की अस्थिरता, निरुत्साह और कायरता पर कभी भी श्रद्धा-सुमन नहीं बरसाए गए। आत्मसंयम, स्वाभिमान, शिष्टता और मिलनसारी की गणना सदैव उत्तम गुणों में ही होती रही और कभी ऐसा नहीं हुआ कि भोग-विलास, ओछापन और अशिष्टता ने नैतिक गुणों की सूची में कोई जगह पाई हो। कर्तव्यपरायणता, विश्वसनीयता, तत्परता एवं उत्तरदायित्व की भावना का सदा सम्मान किया गया तथा कर्तव्य विमुख, धोखाबाज़, कामचोर तथा ग़ैर ज़िम्मेदार लोगों को कभी अच्छी नज़र से नहीं देखा गया। इसी प्रकार सामूहिक जीवन के सद्गुणों व दुर्गुणों के मामले में भी मानवता का फ़ैसला एक जैसा रहा है। आदर की दृषिट से वही समाज देखा गया है जिसमें अनुशासन और व्यवस्था हो, आपसी सहयोग तथा सहकारिता हो, आपसी प्रेमभाव तथा हितचिन्तन हो, सामूहिक न्याय व सामाजिक समानता हो। आपसी फूट, बिखराव, अव्यवस्था, अनुशासनहीनता, मतभेद, परस्पर द्वेषभाव, अत्याचार और असमानता की गणना सामूहिक जीवन के प्रशंसनीय लक्षणों में कभी भी नहीं की गई। ऐसा ही मामला चरित्र की अच्छाई और बुराई का भी है। चोरी, व्यभिचार, हत्या, डकैती,धोखाधड़ी और घूसख़ोरी कभी सत्कर्म नहीं माने गए। अभद्र भाषण, उत्पीड़न, पीठ पीछे बुराई, चुग़लख़ोरी, ईर्ष्या, दोषारोपण तथा उपद्रव फैलाने को कभी 'पुण्य' नहीं समझा गया। मक्कार,

घमण्डी,आडम्बरवादी, कपटाचारी, हठधर्म और लोभी व्यक्ति कभी भले लोगों में नहीं गिने गए । इसके विपरीत माँ-बाप की सेवा, संबंधियों की सहायता, पड़ोसियों से अच्छा व्यवहार, मित्रों से हमदर्दी, निर्बलों की हिमायत, अनाथों और बेसहारों की देखरेख, रोगियों की सेवा तथा पीड़ितों की मदद सदैव नेकी समझी गई है । स्वच्छ चरित्र वाला मधुर भाषी, विनम्र भाव व्यक्ति और सब की भलाई चाहनेवाले लोग सदा आदरणीय रहे । मानवता उन्हीं लोगों को अपना उत्तम अंश मानती रही है जो सच्चे और शुभ-चिन्तक हों, जिनपर हर मामले में भरोसा किया जा सके, जिनका बाहर और भीतर एक समान हो, जिनकी कथनी करनी में समानता हो, जो अपने हितों की प्राप्ति में संतोष करनेवाले और दूसरों के अधिकारों और हितों को देने में उदार हृदय हों, शान्तिपूर्वक रहें और दूसरों को शान्ति प्रदान करें, जिनके व्यक्तित्व से प्रत्येक को 'भलाई' की आशा हो और किसी को बुराई की आशंका न हो ।

इससे मालूम हुआ कि मानवीय नैतिकताएँ वास्तव में ऐसी सर्वमान्य वास्तविकताएँ हैं जिन्हें सभी लोग जानते हैं और सदैव जानते चले आ रहे हैं । अच्छाई और बुराई कोई ढकी-छिपी चीज़ें नहीं हैं कि उन्हें कहीं से ढूँढ़कर निकालने की आवश्यकता हो । वे तो मानवता की चिरपरिचित चीज़ें हैं जिनकी चेतना मानव की प्रकृति में समाहित कर दी गई है । यही कारण है कि क़ुरआन अपनी भाषा में नेकी और भलाई को 'मारूफ़' (जानी-पहचानी हुई चीज़) और बुराई को 'मुनकर' (मानव की प्रकृति जिसका इनकार करे) के शब्दों से अभिहित करता है ।

अर्थात् भलाई और नेकी वह चीज़ है जिसे सभी लोग भला जानते हैं और 'मुनकर' वह है जिसे कोई अच्छाई और भलाई के रूप में नहीं जानता । इसी वास्तविकता का क़ुरआन दूसरे शब्दों में इस प्रकार वर्णन करता है :

"मानवीय आत्मा को ख़ुदा ने भलाई और बुराई का ज्ञान अन्तः प्रेरणा के रूप में प्रदान कर दिया है ।" (91:8)

अब प्रश्न यह है कि यदि नैतिकता की भलाई और बुराई जानी-पहचानी चीज़ें हैं और दुनिया सदैव कुछ गुणों को अच्छा और कुछ को बुरा होने पर एकमत रही है तो फिर दुनिया में ये भिन्न-भिन्न नैतिक व्यवस्थाएँ क्यों पाई जाती हैं ? उनके बीच अन्तर क्यों है ? वह कौन सी चीज़ है जिसके कारण हम कहते हैं कि इस्लाम के पास अपनी एक स्थायी नैतिक व्यवस्था है ? और 'नैतिकता' के सम्बन्ध में वास्तव में इस्लाम का विशिष्ट योगदान (Contribution) क्या है जिसे उसकी ख़ास विशेषता कहा जा सके ?

इस विषय को समझने के लिए जब हम विश्व की विभिन्न नैतिक प्रणालियों

पर नज़र डालते हैं तो पहली दृष्टि में ही जो अन्तर हमारे सामने आता है वह यह है कि विभिन्न नैतिक गुणों को जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्था में लागू करने, उनकी सीमा, स्थान और उपयोग निश्चित करने तथा उनके उचित अनुपात के निर्धारित करने में ये सब प्रणालियाँ परस्पर भिन्न हैं । अधिक गहराई से देखने पर इस अन्तर का कारण यह प्रतीत होता है कि वास्तव में वह नैतिकता की अच्छाई व बुराई का स्तर निर्धारित करने तथा भलाई और बुराई के ज्ञान का स्रोत तय करने में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं । उनके बीच इस मामले में भी मतभेद है कि आचार संहिता की क्रियान्वयन शक्ति (Sanction) कौन-सी है जिसके बल पर वह लागू की जा सके और वे कौन-से प्रेरक तत्त्व हैं जो मनुष्य को इस क़ानून के पालन पर तैयार कर सकें । जब हम इस मतभेद के कारणों की खोज लगाते हैं तो अन्ततः यह वास्तविकता हम पर खुलती है कि वह वास्तविक चीज़ जिसने इन सब नैतिक व्यवस्थाओं के रास्ते अलग-अलग कर दिए हैं वह यह है कि उनके बीच ब्रह्माण्ड की अवधारणा, विश्व में मनुष्य की हैसियत तथा मानव-जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में मतभेद है । इसी मतभेद ने जड़ से लेकर शाखाओं तक उनकी आत्मा, उनके स्वभाव और उनके स्वरूप को एक दूसरे से बिलकुल अलग कर दिया है । मानव-जीवन में मौलिक निर्णायक प्रश्न ये हैं कि इस विश्व का कोई स्वामी है या नहीं ? है तो वह एक है या अनेक हैं ? उसके गुण क्या हैं ? हमारे साथ उसका सम्बन्ध क्या है ? उसने हमारे मार्गदर्शन का कोई प्रबन्ध किया है या नहीं ? हम उसके सामने उत्तरदायी हैं या नहीं ? उत्तरदायी हैं तो किस बात के ? और हमारे जीवन का लक्ष्य और परिणाम क्या है जिसे सामने रखकर हम कार्य करें ? इन प्रश्नों का उत्तर जिस प्रकार का होगा उसी के अनुसार जीवन-व्यवस्था बनेगी और उसी के अनुरूप नैतिक नियमों का निर्माण होगा ।

इस संक्षिप्त वार्ता में मेरे लिए यह कठिन है कि विश्व की विभिन्न जीवन-प्रणालियों का विश्लेषण करके यह बताऊँ कि उनमें किस-किस ने इन प्रश्नों का कौन-सा उत्तर अपनाया है और इस उत्तर ने उसके स्वरूप और मार्ग निर्धारण पर क्या प्रभाव डाला है ? मैं केवल इस्लाम के सम्बन्ध में बतलाऊँगा कि वह इन प्रश्नों का क्या उत्तर देता है और उसके आधार पर किस विशेष प्रकार की नैतिक व्यवस्था अस्तित्व में आती है ।

इस्लाम का जवाब यह है कि इस सृष्टि का स्वामी 'ईश्वर' है और वह एक ही स्वामी है । उसी ने इस सृष्टि को पैदा किया । वही इसका एकमात्र प्रभु, शासक और पालनहार है । उसी के आदेशानुपालन के कारण यह सारी व्यवस्था चल रही है । वह तत्त्वदर्शी, सर्वशक्तिमान है, प्रत्यक्ष और परोक्ष का जाननेवाला है । सभी

दोषों, भूलों; निर्बलताओं तथा कमियों से मुक्त है । उसकी व्यवस्था में लाग लपेट या टेढ़ापन बिलकुल नहीं है । मनुष्य उसका जन्मजात बन्दा (दास) है । उसका कार्य यही है कि वह अपने स्रष्टा की बन्दगी (ग़ुलामी) और आज्ञापालन करे । उसके जीवन का लक्ष्य ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण और आज्ञापालन है जिसकी पद्धति निर्धारित करना मनुष्य का अपना काम नहीं बल्कि उस ईश्वर का काम है जिसका वह दास है । ईश्वर ने उसके मार्गदर्शन हेतु अपने दूत (पैग़म्बर) भेजे हैं और ग्रन्थ उतारे हैं । मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपनी जीवन-व्यवस्था इसी ईश्वरीय मार्गदर्शन के स्रोत से प्राप्त करे । मनुष्य अपने सभी कार्यकलापों के लिए ईश्वर के सामने उत्तरदायी है और इस उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में उसे इस लोक में नहीं बल्कि परलोक में हिसाब देना है । वर्तमान जीवन तो वास्तव में परीक्षा की अवधि है इसलिए यहाँ मनुष्य के सम्पूर्ण प्रयास इस लक्ष्य की ओर केन्द्रित होने चाहिएं कि वह आख़िरत क़ी जवाबदेही में अपने प्रभु के समक्ष सफल हो जाए । परलोक की इस परीक्षा में मनुष्य अपने पूरे अस्तित्व के साथ सम्मिलित है । उसकी सभी शक्तियों एवं योग्यताओं की परीक्षा है । पूरे विश्व की जो चीज़ें भी मनुष्य के सम्पर्क में आती हैं उसके बारे में निष्पक्ष जाँच होती है कि मनुष्य ने उन चीज़ों के साथ कैसा मामला किया और यह जाँच करनेवाली वह सत्ता है जिसने धरती के कण-कण पर, हवा और पानी पर, विश्वात्मक तरंगों पर और ख़ुद इनसान के दिल व दिमाग़ और हाथ-पैर पर, उसकी गतिविधियों का ही नहीं बल्कि उसके विचारों तथा इरादों तक का ठीक-ठीक रिकार्ड उपलब्ध कर रखा है ।

यह है वह उत्तर जो इस्लाम ने जीवन के मूलभूत प्रश्नों का दिया है । सृष्टि और मनुष्य के संबंध में उक्त अवधारणा उस वास्तविक और परम कल्याण के लक्ष्य को निर्धारित कर देती है जिसे प्राप्त करने का भरपूर प्रयास मनुष्य को करना चाहिए, और वह है ईश्वर की प्रसन्नता । यही वह मानदण्ड है जिसपर इस्लाम की नैतिक व्यवस्था में किसी कार्य शैली को परखकर यह निर्णय किया जाता है कि वह 'भला' है या 'बुरा' । इसके निर्धारण से नैतिकता को वह धुरी मिल जाती है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण नैतिक जीवन घूमता है और उसकी स्थिति लंगर रहित जहाज़ की-सी नहीं रहती कि हवा के झोंके और समुद्र की लहरों के थपेड़े उसे इधर-उधर दौड़ाते फिरें । यह निर्धारण एक केन्द्रिय उद्देश्य सामने रखता है जिसके परिणामस्वरूप जीवन में सभी नैतिक गुणों की उचित सीमाएँ उचित स्थान और उपयुक्त व्यावहारिक रूप निश्चित हो जाते हैं । हमें वह स्थायी नैतिक मूल्य मिल जाते हैं जो परिवर्तनशील परिस्थितियों में भी अपनी जगह अटल रह सकें । फिर सबसे बड़ी बात यह है कि ईश प्रसन्नता का लक्ष्य प्राप्त कर लेने से नैतिकता को एक उच्चतम परिणाम मिल जाता है जिसके फलस्वरूप नैतिक उत्थान की सम्भावनाएँ

असीम हो जाती हैं और किसी चरण में भी स्वार्थपरता का प्रदूषण उसे दूषित नहीं कर सकता ।

मापदण्ड प्रदान करने के साथ इस्लाम अपने इसी विश्व तथा मानव अवधारणा पर आधारित नैतिक सौन्दर्य तथा असौन्दर्य के ज्ञान का एक स्थायी स्रोत भी हमें प्रदान करता है । उसने हमारे नैतिकता के ज्ञान को मात्र हमारी बुद्धि या इच्छाओं या अनुभवों अथवा मानवीय ज्ञान के भरोसे नहीं छोड़ा है कि यदि ये चीज़ें अपने निर्णय बदल दें तो हमारे नैतिक सिद्धान्त भी बदल जाएँ और उन्हें कोई स्थायित्व न मिल सके, बल्कि इस्लाम ने हमें दो निश्चित स्रोत (ईशग्रन्थ और ईशदूत का आदर्श) प्रदान किए हैं जिससे हमें हर युग तथा प्रत्येक परिस्थिति में नैतिक निर्देश प्राप्त होते हैं । ये निर्देश ऐसे व्यापक हैं कि घरेलू जीवन के छोटे से छोटे मामलात से लेकर बड़ी-बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याओं तक जीवन के हर पक्ष और प्रत्येक विभाग में वे हमारा मार्गदर्शन करते हैं । उनके अन्दर जीवन संबंधी विषयों पर नैतिक सिद्धान्तों का वह व्यापक निरूपण (Widest Application) पाया जाता है जो किसी स्तर पर किसी अन्य साधन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होने देता ।

सृष्टि व मानव सम्बन्धी इस्लाम की इसी अवधारणा में वह क्रियान्वयन शक्ति (sanction) भी मौजूद है जिसका होना नैतिक क़ानून को लागू करने के लिए ज़रूरी है और वह है ईशभय, परलोक की पूछताछ का डर और शाश्वत भविष्य की असफलता का ख़तरा । यद्यपि इस्लाम एक ऐसी शक्ति और जनमत (Public Opinion) भी तैयार करना चाहता है जो सामाजिक जीवन में व्यक्तियों एवं समुदायों को नैतिक नियमों की पाबन्दी पर विवश करनेवाली हो और एक ऐसी राजनैतिक व्यवस्था भी बनाना चाहता है जिसके द्वारा नैतिकता संबंधी आचार संहिता बलपूर्वक लागू करे परन्तु इसमें बाह्य दबाव की अपेक्षा आन्तरिक प्रेरणा अधिक शक्तिशाली हो जो ईश्वर और परलोक के विचार पर आधारित हो । नैतिकता संबंधी निर्देश देने से पहले इस्लाम आदमी के दिल में यह बात बिठाता है कि तेरा मामला वास्तव में उस अल्लाह के साथ है जो हर समय हर जगह तुझे देख रहा है । तू दुनिया भर से छिप सकता है मगर उससे नहीं छिप सकता । दुनिया भर को धोखा दे सकता है मगर उसे धोखा नहीं दे सकता । दुनिया भर से भाग सकता है मगर उसकी पकड़ से बचकर कहीं नहीं जा सकता । दुनिया केवल तेरा बाहरी रूप देख सकती है मगर ईश्वर तेरी नीयत तथा तेरे इरादों तक को देख लेता है । दुनिया के थोड़े-से जीवन में तू जो चाहे कर ले मगर तुझे अन्ततः मरकर उसकी अदालत में उपस्थित होना है जहाँ वकालत, रिश्वत, सिफ़ारिश, झूठी गवाही, धोखा कुछ

भी न चल सकेगा और तेरे भविष्य का निष्पक्ष फ़ैसला हो जाएगा। इस विश्वास के द्वारा इस्लाम मानो हर व्यक्ति के दिल में पुलिस की एक चौकी स्थापित कर देता है जो अन्दर से उसको आदेश पालन पर विवश करती है । चाहे बाहर उन आदेशों की पाबन्दी करानेवाली पुलिस, अदालत और जेल मौजूद हो या न हो । इस्लाम के नैतिक क़ानून के पीछे यही वास्तविक शक्ति है जो उसे लागू कराती हैं । जनमत और शासन का समर्थन भी इसे प्राप्त हो तो कहना ही क्या ! वरना मात्र यही ईमान और विश्वास मुसलमानों को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से सीधा चला सकता है शर्त यही है कि सच्चा ईमान दिलों में बैठा हुआ हो ।

संसार और इनसान के संबंध में यह इस्लामी दृष्टिकोण वे प्रेरणाएँ भी प्रस्तुत करता है जो इनसान को नैतिक नियमों पर चलने के लिए उभारती हैं । इनसान का ईश्वर को अपना ईश्वर मान लेना और उसके प्रति समर्पण को अपना जीवन लक्ष्य बनाना और उसकी प्रसन्नता को अपना जीवन लक्ष्य ठहराना पर्याप्त प्रेरक है कि वह उन आदेशों का पालन करे जिनके विषय में उसे विश्वास हो कि वे ईश्वरीय आदेश हैं । इसके साथ परलोक पर विश्वास की यह धारणा एक दूसरा शक्तिशाली प्रेरक है कि जो व्यक्ति ईश्वरीय निर्देशों का पालन करेगा उसके लिए परलोक के शाश्वत जीवन में एक उज्जवल भविष्य निश्चित है, चाहे दुनिया के इस अस्थायी जीवन में उसे कितनी ही कठिनाइयों, कष्टों और हानियों को झेलना पड़े । इसके विपरीत जो यहाँ ईश्वर की अवज्ञा करेगा वह परलोक में स्थायी दण्ड भोगेगा, चाहे यहाँ के थोड़े दिनों के जीवन में वह कितने ही मज़े लूट ले । यह आशा और यह भय अगर किसी के दिल में घर कर जाए तो वह ऐसी परिस्थिति में भी बुराई से दूर रह सकता है जहाँ बुराई अत्यन्त लुभावनी या लाभप्रद हो ।

इस विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस्लाम के पास सृष्टि के सम्बन्ध में अपना एक दृष्टिकोण है, अच्छाई और बुराई के अपने पैमाने हैं । नैतिकता के ज्ञान के अपने स्रोत हैं, अपनी क्रियान्वयन शक्ति है और वह अपना प्रेरक बल अलग रखता है। उन्हीं की सहायता से इस्लाम परिचित मान्य नैतिक सिद्धान्तों को अपने मूल्यों के अनुसार व्यवस्थित करके जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू करता है । इसी आधार पर यह कहना बिलकुल सही है कि इस्लाम अपनी एक पूर्ण एवं स्थायी नैतिक व्यवस्था रखता है । इस व्यवस्था की विशेषताएँ वैसे तो बहुत हैं मगर उनमें से तीन बहुत महत्वपूर्ण हैं जिन्हें उसका महत्वपूर्ण योगदान कहा जा सकता है ।

पहली विशेषता यह है कि वह ईश-प्रसन्नता को लक्ष्य बनाकर नैतिकता के लिए एक ऐसा उच्च मानदण्ड प्रस्तुत करता है, जिसके कारण नैतिक उत्थान की कोई अंतिम सीमा नहीं रहती । ज्ञान के एक स्रोत का निर्धारण करके नैतिकता

को ऐसा स्थायित्व प्रदान करता है जिसमें उन्नति की तो संभावना है मगर अनावश्यक परिवर्तन की नहीं। ईशभय के द्वारा नैतिक नियमों के लागू करने के लिए वह बल देता है जो बाहरी दबाव के बग़ैर भी इनसान से उसकी पाबन्दी कराता है। ईश्वर और परलोक पर विश्वास वह प्रेरक शक्ति प्रदान करता है जो इनसान को स्वयमेव नैतिक नियमों का अनुसरण करने की चाहत और स्वीकृति पैदा करता है।

दूसरी विशेषता यह है कि इस्लाम अनावश्यक उर्वरता से काम लेकर कुछ निराली नैतिकता को प्रस्तुत नहीं करता और न मानव के प्रमुख नैतिक सिद्धान्तों में से कुछ को घटाने-बढ़ाने का प्रयास करता है। वह उन्हीं नैतिक उसूलों को लेता है जो जाने-पहचाने हैं और उनमें से कुछ को नहीं बल्कि सबको लेता है। फिर जीवन में पूर्ण सन्तुलन के साथ प्रत्येक की स्थिति, स्थान और उपयोग तय करता है और उन्हें इतने व्यापक रूप से लागू करता है कि व्यक्तिगत आचरण, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन, राजनीति, कारोबार, बाज़ार, शिक्षण संस्था, न्यायालय, पुलिस लाइन, छावनी, रणक्षेत्र, समझौता कान्फ्रेन्स अर्थात् जीवन का कोई भाग नैतिकता के व्यापक प्रभाव-क्षेत्र से बच नहीं पाता। हर जगह और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह नैतिकता को शासक बनाता है और उसका प्रयास यह है कि ज़ीवन के मामलों की लगाम इच्छाओं, स्वार्थों और परिस्थितियों के बजाए नैतिकता के हाथ में हो।

तीसरी विशेषता यह है कि वह (इस्लाम) इनसानियत से एक ऐसी जीवन- व्यवस्था की माँग करता है जो अच्छाई पर आधारित हो और बुराई से पाक हो। उसका आह्वान यही है कि जिन भलाइयों को मानवता के स्वभाव ने सदा भला जाना है आओ उन्हें स्थापित करें और फैलाएँ तथा जिन बुराइयों को मानवता सदा बुरा समझती रही है, आओ उन्हें दबाएँ और मिटाएँ। इस आह्वान को जिन्होंने स्वीकार किया उन्हें इकट्ठा करके इस्लाम ने एक उम्मत (समुदाय) बनाई जिसका नाम मुस्लिम था, जिसका एकमात्र उद्देश्य यही था कि वह 'भलाई' को जारी करे और 'बुराई' को दबाने और मिटने के लिए संगठित प्रयास करे। अब यदि उसी उम्मत के हाथों 'भलाई' दबे और 'बुराई' फलने-फूलने लगे तो यह उस उम्मत के लिए और पूरी दुनिया के लिए मातम करने का स्थान है।

—◆—

2

इस्लाम की राजनीतिक व्यवस्था

इस्लामी राजनैतिक व्यवस्था की बुनियाद तीन सिद्धान्तों पर रखी गई है— तौहीद, रिसालत और ख़िलाफ़त । इन सिद्धान्तों को भली-भाँति समझे बिना इस्लामी राजनीति की विस्तृत व्यवस्था को समझना कठिन है । इसलिए सर्वप्रथम इन्हीं की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत है ।

तौहीद (एकेश्वरवाद) का अर्थ यह है कि ईश्वर इस संसार और इसमें बसनेवालों का स्रष्टा, पालक और स्वामी है । सत्ता और शासन उसी का है । वही हुक्म देने और मना करने का हक़ रखता है । आज्ञापालन तथा पूर्णसमर्पण केवल उसी के लिए है । हमारा यह अस्तित्व, हमारे ये शारीरिक अंग एवं शक्तियाँ जिनसे हम काम लेते हैं, हमारे उपयोग की वस्तुएँ तथा उनसे संबंधित हमारे अधिकार जो हमें संसार की सभी चीज़ों पर प्राप्त हैं और स्वंय वे चीज़ें जिन पर हमारा अधिकार है, उनमें से कोई चीज़ भी न हमारी पैदा की हुई है और न हमने उसे प्राप्त किया है, सबकी सब ईश्वर द्वारा ही पैदा की गई हैं और उसी ने हमें सब कुछ प्रदान किए हैं, जिसमें अन्य कोई हस्ती भागीदार नहीं है । इसलिए अपने अस्तित्व का उद्देश्य और अपनी क्षमताओं का प्रयोजन और अपने अधिकारों का सीमा-निर्धारण करना न तो हमारा अपना कार्य है और न किसी अन्य व्यक्ति को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार है, यह केवल उस ईश्वर का कार्य है जिसने हमको इन शक्तियों तथा अधिकारों के साथ पैदा किया और दुनिया की बहुत-सी चीज़ें हमारे अधिकार में दी हैं । यह सिद्धान्त मानवीय प्रभुसत्ता (Sovereignty) को पूर्ण रूपेण नकार देता है । एक इनसान हो या एक परिवार, एक वर्ग हो या एक समुदाय अथवा पूरी दुनिया के लोग हों किसी को प्रभुसत्ता का अधिकार नहीं । हाकिम (सम्प्रभु) केवल अल्लाह है, उसी का हुक्म 'क़ानून' है ।

रिसालत (ईशदूतत्व) उस माध्यम का नाम है जिसके द्वारा ईश्वरीय विधान मानव तक पहुँचता है । इस माध्यम से हमें दो चीज़ें मिलती हैं— 'एक किताब', जिसमें स्वयं ईश्वर ने अपना क़ानून बताया है; दूसरे किताब की प्रामाणिक एवं विश्वसनीय व्याख्या जो ईशदूत ने ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में अपनी कथनी और करनी के द्वारा प्रस्तुत की है । ईश ग्रन्थ में उन सभी नियमों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख कर दिया गया है जिन पर मानवीय जीवन-व्यवस्था आधारित होनी चाहिए और ईशदूत (रसूल) ने किताब के अनुकूल व्यावहारिक रूप में एक जीवन-व्यवस्था बनाकर,

चलाकर और उसके आवश्यक विवरण बताकर हमारे लिए एक नमूना स्थापित कर दिया है । इन्हीं दो चीज़ों के समूह का नाम इस्लामी पारिभाषिक शब्दावली में 'शरीअत'[1] है और यही वह आधारभूत संविधान है जिसपर इस्लामी राज्य की स्थापना होती है ।

अब 'ख़िलाफ़त' को लीजिए । यह शब्द अरबी भाषा में प्रतिनिधित्व के लिए बोला जाता है । इस्लामी दृष्टिकोण से दुनिया में इनसान की हैसियत यह है कि वह धरती पर अल्लाह का प्रतिनिधि है अर्थात् उसके राज्य में उसके दिए हुए अधिकारों का प्रयोग करता है । आप जब किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध सौंपते हैं तो निश्चित रूप से आपके सामने चार बातें होती हैं— एक यह कि सम्पत्ति के वास्तविक स्वामी आप स्वयं हैं न कि वह प्रबन्धक व्यक्ति; दूसरे यह कि उस व्यक्ति को आपकी जायदाद में आपके निर्देशानुसार कार्य करना चाहिए; तीसरे यह कि उसे अपने अधिकारों को आपके द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर ही प्रयोग करना चाहिए; चौथे यह कि आपकी जायदाद में उसे आपकी इच्छा और मन्तव्य को पूरा करना होगा न कि अपना । ये चार शर्तें प्रतिनिधित्व की अवधारणा में इस प्रकार शामिल हैं कि नायब (प्रतिनिधि) का शब्द बोलते ही ये शर्तें स्वयं ही मानव के मस्तिष्क में आ जाती हैं । अगर कोई प्रतिनिधि इन चार शर्तों को पूरा न करे तो आप कहेंगे कि प्रतिनिधित्व की सीमाओं को लांघ गया है और उसने वह अनुबंध तोड़ दिया है जो प्रतिनिधित्व के मूल अर्थ में सन्निहित था । ठीक इन्हीं अर्थों में इस्लाम इनसान को ख़ुदा का ख़लीफ़ा ठहराता है और इस ख़िलाफ़त की अवधारणा में यही चारों शर्तें सम्मिलित हैं। इस राजनीतिक विचारधारा के आधार पर जो राज्य बनेगा वह वास्तव में, ईश्वर की संप्रभुता (Sovereignty) के अंतर्गत इनसानी ख़िलाफ़त होगी, जिसे ख़ुदा के मुल्क (राज्य) में उसके निर्देशानुसार निर्धारित सीमाओं के भीतर कार्य करके उसकी इच्छा पूरी करनी होगी ।

ख़िलाफ़त की इस व्याख्या के संबंध में इतनी बात और समझ लीजिए कि इस्लाम की राजनैतिक विचारधारा किसी व्यक्ति या परिवार या वर्ग को ख़लीफ़ा घोषित नहीं करती बल्कि पूरे समाज को ख़िलाफ़त (प्रतिनिधित्व) का पद सौंपती है जो तौहीद (एकेश्वरवाद) और रिसालत के आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार करके प्रतिनिधित्व की शर्तें पूरी करने को तैयार हो । ऐसा समाज सामूहिक रूप से ख़िलाफ़त के योग्य है और यह ख़िलाफ़त उसके प्रत्येक सदस्य तक पहुँचती है । यही वह बिन्दु है जहाँ इस्लाम में लोकतन्त्र की शुरूआत होती है । इस्लामी समाज का प्रत्येक व्यक्ति ख़िलाफ़त के अधिकार रखता है । ये अधिकार सबको समान रूप

---

1. धर्म शास्त्र, धार्मिक क़ानून।

से प्राप्त होते हैं जिसके संबंध में किसी को दूसरे पर वरीयता नहीं दी जा सकत और न ही किसी को इनसे वंचित किया जा सकता है । राज्य का प्रशासन चला के लिए जो हुकूमत बनाई जाएगी वह इन्हीं व्यक्तियों की सहमति से बनेगी । यह लोग अपने प्रतिनिधित्व का एक भाग हुकूमत को सौंपेंगे । उसके बनने में उनक राय शामिल होगी और उनके परामर्श ही से वह चलेगी । जो उन लोगों का विश्वा प्राप्त करेगा वही उनकी ओर से ख़िलाफ़त के कर्तव्य निभाएगा और जो उनक विश्वास खो देगा उसे सत्ता के पद से हटना पड़ेगा । इस दृष्टि से इस्लामी लोकतन् एक पूर्ण लोकतन्त्र है, उतना ही पूर्ण जितना कोई लोकतन्त्र हो सकता है । तथा जो चीज़ इस्लामी लोकतन्त्र को पाश्चात्य लोकतन्त्र से अलग करती है वह य है कि पश्चिम का राजनीतिक दृष्टिकोण जनता की प्रभुसत्ता (Sovereignty O People) को मानती है जबकि इस्लाम लोकतन्त्रीय ख़िलाफ़त को मानता है । वह जनता स्वयं संप्रभु है और यहाँ संप्रभुता ईश्वर की है और जनता उसकी ख़लीफ़ और प्रतिनिधि है । वहाँ लोग अपने लिए ख़ुद शरीअत (क़ानून) बनाते हैं, यह उन्हें उस शरीअत (क़ानून) का अनुपालन करना पड़ता है जिसको ईश्वर ने अप दूत के माध्यम से दिया है । वहाँ हुकूमत का काम जनता की इच्छा की पूर्ति करन है, यहाँ हुकूमत और उसके बनानेवाले सबका काम अल्लाह की इच्छा पूरी करन होता है । संक्षेप में पश्चिमी लोकतन्त्र एक निरंकुश ख़ुदाई है जो अपनी शक्ति और अधिकारों को निर्बाध प्रयोग करती है। इसके विपरीत इस्लामी लोकतन्त्र क़ानू के प्रति पूर्ण समर्पित है जो अपने अधिकारों को ईश्वरीय निर्देशानुसार निर्धारित सीमाअ के भीतर ही इस्तेमाल करती है ।

अब मैं आपके सामने उस राज्य की एक संक्षिप्त मगर स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तु करूँगा जो तौहीद, रिसालत और ख़िलाफ़त के सिद्धान्तों पर आधारित होता है ।

इस राज्य का उद्देश्य क़ुरआन में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि वह उन भलाइय को स्थापित करे और फैलाए जिन्हें ईश्वर हमारे जीवन में देखना चाहता है तथ उन बुराइयों को रोके, दबाए और मिटाए जिनकी उपस्थिति हमारे जीवन में उ पसन्द नहीं है । इस्लाम में सत्ता का उद्देश्य न तो मात्र राष्ट्र की व्यवस्था चलान है और न यह कि वह किसी विशेष/वर्ग की सामूहिक इच्छाओं की पूर्ति करे इसके बजाए इस्लाम उसके सामने एक उच्च लक्ष्य रख देता है जिसको प्राप्त कर के लिए उसको अपने सभी साधन तथा अपनी पूर्ण क्षमता लगा देनी चाहिए, औ वह यह है कि ईश्वर अपनी धरती पर अपने बन्दों के जीवन में जो शुद्धता, पवित्रता सुन्दरता और भलाई तथा जो उन्नति और सफलता देखना चाहता है वह उत्पन हो और बिगाड़ के उन सभी प्रकारों का उन्मूलन हो जो ईश्वर की दृष्टि में धरत

को उजाड़नेवाले तथा इनसानों के जीवन को ख़राब करनेवाले हैं । इस लक्ष्य को पेश करने के साथ इस्लाम हमारे सामने भलाई और बुराई दोनों का एक स्पष्ट चित्र रख देता है जिसमें अपेक्षित भलाइयों और अनिच्छित बुराइयों को बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया है । इस चित्र को सामने रखकर हर युग में और हर परिस्थिति में इस्लामी राज्य अपना सुधारात्मक कार्यक्रम बना सकता है ।

इस्लाम की निरंतर माँग यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नैतिक सिद्धान्तों का अनुपालन किया जाए, इसलिए वह अपने राज्य के लिए भी यह स्थायी नीति निर्धारित कर देता है कि उसकी राजनीति निष्पक्ष न्याय, निस्वार्थ सत्यता और प्रखर ईमानदारी पर स्थापित हो । वह राष्ट्रीय या प्रशासनिक या सामुदायिक हित के लिए झूठ, छलकपट और अन्याय को किसी भी स्थिति में सहन करने के लिए तैयार नहीं है । देश के अन्दर शासक और प्रजा के आपसी संबंध हों या देश के बाहर दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंध, दोनों में वह सच्चाई, ईमानदारी और न्याय को स्वार्थ और उद्देश्यों पर प्राथमिकता देता है । मुस्लिम जनता की भाँति मुस्लिम राज्य पर भी वह यह प्रतिबन्ध लागू करता है कि अनुबन्ध करो तो उसे पूरा करो, लेने और देने के मापदण्ड समान रखो, जो कुछ कहते हो वही करो और जो करते हो वही कहो । अपने अधिकार के साथ अपने कर्तव्य को भी याद रखो और दूसरों के कर्तव्य के साथ उनके अधिकार को भी न भूलो । शक्ति को अत्याचार और शोषण के बजाए न्याय की स्थापना का साधन बनाओ । अधिकार को हर हाल में अधिकार समझो और उसे अदा करो । सत्ता को ईश्वर की अमानत समझो और इस विश्वास के साथ उसे इस्तेमाल करो कि इस अमानत का पूरा-पूरा हिसाब तुम्हें ईश्वर के समक्ष देना है ।

यद्यपि इस्लामी राज्य किसी भूभाग में ही स्थापित होता है परन्तु वह मानवाधिकारों तथा नागरिक अधिकारों को भौगोलिक सीमाओं में सीमित नहीं रखता । जहाँ तक मानवाधिकार का संबंध है इस्लाम प्रत्येक मनुष्य के लिए कुछ मौलिक अधिकार घोषित करता है और प्रत्येक स्थिति में उसके सम्मान का आदेश देता है, भले ही वह व्यक्ति इस्लामी राज्य की सीमा के अन्दर रहता हो या उससे बाहर, चाहे वह मित्र हो या शत्रु, चाहे उससे शांति समझौता हो या वह युद्ध पर उतारू हो । इनसानी ख़ून प्रत्येक दशा में आदरणीय है, न्यायिक उद्देश्य के अतिरिक्त उसे किसी भी परिस्थिति में नहीं बहाया जा सकता । स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों, रोगियों और घायलों पर किसी भी हालत में हाथ उठाना उचित नहीं । स्त्री का सतीत्व हर हाल में आदर योग्य है और उसे बेआबरू नहीं किया जा सकता । भूखा व्यक्ति रोटी का, नंगा वस्त्र का, घायल या बीमार उपचार व देखभाल का आवश्यकरूप से अधिकारी

है, भले ही उसका संबंध शत्रु वर्ग से हो । ये और इसी प्रकार के अनेक अधिकार इस्लाम ने इनसान को इनसान की हैसियत से दिए हैं । इस्लामी राज्य के संविधान में इनको मौलिक अधिकार का स्थान प्राप्त है । इसी प्रकार नागरिक अधिकार भी इस्लाम केवल उन लोगों को ही नहीं देता जो उसके राज्य की सीमाओं में ज़न्मे हैं, बल्कि हर मुसलमान चाहे वह संसार के किसी भी कोने में पैदा हुआ हो, इस्लामी राज्य की सीमाओं में दाख़िल होते ही अपने आप उसका नागरिक बन जाता है और जन्मज़ात नागरिकों के समान अधिकारों का हक़दार बन जाता है । दुनिया में जितने भी इस्लामी राज्य होंगे उन सबके बीच साझी नागरिकता होगी। मुसलमान को किसी इस्लामी राज्य में प्रवेश करने के लिए पासपोर्ट की आवश्यकता न होगी । मुसलमान किसी नस्ल, वर्ग या समुदाय के भेद के बिना प्रत्येक इस्लामी देश में बड़े से बड़े पद पर नियुक्त हो सकता है ।

इस्लामी राज्य की सीमाओं में बसनेवाले ग़ैर मुस्लिमों के भी कुछ अधिकार इस्लाम ने निर्धारित कर दिए हैं जो इस्लामी संविधान का अभिन्न अंग होंगे । इस्लामी शब्दावली में ऐसे ग़ैर मुस्लिम लोगों को 'ज़िम्मी' कहा जाता है । अर्थात् जिनकी सुरक्षा का ज़िम्मा इस्लामी राज्य ने लिया है । ज़िम्मी की जान-माल और इज़्ज़त एक मुसलमान की जान-माल और इज़्ज़त की भाँति ही आदरणीय है । फ़ौजदारी तथा दीवानी क़ानूनों में मुस्लिम और ज़िम्मी में कोई अन्तर नहीं । ज़िम्मियों के पर्सनल लॉ में इस्लामी राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा । ज़िम्मियों को अपने विश्वास, आस्था तथा धार्मिक कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होगी । ज़िम्मी अपने धर्म का प्रचार ही नहीं बल्कि क़ानूनी हद में रहते हुए इस्लाम की आलोचना भी कर सकता है । ये और इस प्रकार के अनेक अधिकार इस्लामी विधान में ग़ैर मुस्लिम प्रजा को दिए गए हैं । ये स्थायी अधिकार हैं जिन्हें उस समय तक छीना नहीं जा सकता जब तक कि वे इस्लामी राज्य के उत्तरदायित्व से किसी कारणवश बाहर नहीं हो जाएँ । कोई ग़ैर-मुस्लिम राज्य अपनी मुस्लिम प्रजा पर चाहे कितने ही अत्याचार क्यों न करे एक इस्लामी राज्य को उसके जवाब में अपनी ग़ैर मुस्लिम प्रजा पर शरीअत के विरुद्ध ज़रा भी अत्याचार करने का अधिकार नहीं, यहाँ तक कि इस्लामी राज्य की सीमाओं के बाहर अगर सारे मुसलमान क़त्ल भी कर दिए जाएँ तब भी अपनी सीमा में एक ग़ैर मुस्लिम का ख़ून नाहक़ नहीं बहाया जा सकता ।

इस्लामी राज्य के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व एक अमीर (प्रधान) के सुपुर्द किया जाएगा जिसे लोकतंत्रीय राष्ट्रपति के समकक्ष समझना चाहिए । अमीर के चुनाव में उन सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों को मत देने का अधिकार होगा जो संविधान के नियमों को स्वीकार करते हों । चुनाव का आधार यह होगा कि इस्लाम का पूर्ण

ज्ञान, इस्लामी चरित्र, ईश भय, दयालुता और गहन विचार शक्ति की दृष्टि से कौन व्यक्ति समाज के अधिक से अधिक व्यक्तियों का विश्वास पात्र है । ऐसे व्यक्ति को अमीर के पद के लिए चुना जाएगा, फिर उसकी सहायता के लिए एक 'मजलिसे शूरा' (सलाहकार परिषद) बनाई जाएगी और वह भी लोगों के द्वारा चुनी जाएगी । अमीर के लिए अनिवार्य होगा कि वह सलाहकार परिषद के मशविरे से देश का शासन-प्रबन्ध चलाए । एक अमीर उसी समय तक सत्ता में रह सकता है जब तक कि उसे लोगों का विश्वास प्राप्त रहेगा । अविश्वास की दशा में उसे पद छोड़ना होगा । जब तक वह विश्वास मत रखता है उसे शासन के पूर्ण अधिकार प्राप्त रहेंगे और वह सलाहकार परिषद के बहुमत के मुक़ाबले में अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर सकेगा । अमीर और उसके प्रशासन पर आम नागरिकों को आलोचना करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होगा ।

इस्लामी स्टेट में क़ानून का निर्माण इस्लामी शरीअत (क़ुरआन और हज़रत मुहम्मद सल्ल० के कथन) की सीमाओं के अन्तर्गत ही किया जा सकता है । ईश्वर और उसके संदेष्टा के आदेश तो अनुकरणीय हैं । कोई विधान परिषद उसमें परिवर्तन नहीं कर सकती । रहे ऐसे आदेश और नियम जिनके दो अर्थ सम्भव हों तो उनमें शरीअत का मंशा ज्ञात करना उन लोगों का काम है जो शरीअत का ज्ञान रखते हों । इसलिए ऐसे मामले सलाहकार परिषद की उस उपसमिति के सुपुर्द किए जाएँगे जिसके सदस्य धार्मिक विद्वान होंगे । ऐसे अनेक मामले जिनके सम्बन्ध में शरीअत ने कोई निर्धारित नियम नहीं दिया है, सलाहकार परिषद धार्मिक सीमाओं के अन्तर्गत क़ानून बनाने के लिए स्वतन्त्र है ।

इस्लाम में न्यायपालिका प्रशासन के अधीन न होकर सीधे ईश्वर की प्रतिनिधि तथा उसी के समक्ष जवाबदेह होती है । न्यायाधीशों की नियुक्ति तो प्रशासनतन्त्र ही करेगा परन्तु जब एक व्यक्ति अदालत की कुर्सी पर बैठ जाएगा तो वह ईश्वर के क़ानून के अनुसार लोगों के बीच बेलाग इनसाफ़ करेगा और इस इनसाफ़ की पकड़ से हुकूमत भी न बच सकेगी । यहाँ तक कि हुकमत के उच्चतम पदाधिकारी को भी वादी या प्रतिवादी की हैसियत से उसी प्रकार अदालत में उपस्थित होना पड़ेगा जैसे एक साधारण नागरिक होता है ।

—◆—

3

इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था

इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला यह सिद्धान्त है कि दुनिया के सब इनसान एक नस्ल के हैं । ईश्वर ने सर्वप्रथम एक इनसानी जोड़ा पैदा किया था, फिर उसी जोड़े से वे सारे लोग पैदा कर दिए जो दुनिया में बसे हैं । आरम्भ में इस जोड़े की सन्तान काफ़ी समय तक एक ही समुदाय बनी रही । उनका धर्म, उनकी भाषा एक ही थी । उनके बीच कोई भेद न था । मगर जैसे-जैसे उनकी संख्या बढ़ती गई वे धरती पर फैलते गए और इस फैलाव के कारण स्वाभाविक रूप से विभिन्न नस्लों, समुदायों तथा वंशों में विभक्त हो गए । उनकी भाषाएँ अलग हो गईं, उनके पहनावे बदल गए और रहन-सहन के ढंग अलग हो गए । जगह-जगह की विविध जलवायु के कारण उनके रंगरूप और डील-डौल भी परिवर्तित हो गए । ये सब विविधताएँ स्वाभाविक हैं जो वास्तविकता के धरातल में मौजूद हैं । इसलिए इस्लाम इनको एक वास्तविकता के रूप में स्वीकार करता है, वह उनको मिटाना नहीं चाहता, बल्कि उनका यह लाभ मानता है कि मनुष्यों का आपसी परिचय और सहयोग इसी प्रकार से संभव है । परन्तु इन अन्तरों के कारण इनसानों में भाषा, राष्ट्रीयता और वतन सम्बन्धी जो पक्षपात उत्पन्न हो गए हैं उन सबको इस्लाम अनुचित ठहराता है । इनसान और इनसान के बीच ऊँच-नीच, अपने-पराए, कुलीन और नीच सम्बन्धी जितने भेदभाव जन्म के आधार पर अपना लिए गए हैं, इस्लाम के निकट ये सब अज्ञानता की बातें हैं । वह सम्पूर्ण विश्व के इनसानों से कहता है कि तुम सब एक माँ एक बाप की संतान हो, अतः एक-दूसरे के भाई हो और इनसान होने के नाते बराबर हो ।

मानवता के इस दृष्टिकोण को अपनाने के पश्चात् इस्लाम कहता है कि इनसानों के बीच वास्तविक अन्तर रंग, नस्ल, वतन और भाषा का नहीं, बल्कि विचार, नैतिक आचरण तथा सिद्धान्तों का हो सकता है । एक माँ के दो बच्चे अपनी नस्ल की दृष्टि से चाहे एक हों परन्तु अगर उनके विचार और आचरण भिन्न-भिन्न हैं तो उनके जीवन-मार्ग अलग-अलग हो जाएँगे । इसके विपरीत पूर्व और पश्चिम के दूरस्थ छोरों पर बसनेवाले दो मनुष्य यद्यपि बाह्य रूप से एक दूसरे से कितने ही दूर हों, परन्तु यदि वे एक जैसे विचार रखते हैं और उनके आचरण एक दूसरे से मिलते हैं तो उनके जीवन का मार्ग एक होगा । इस अवधारणा के आधार पर इस्लाम संसार के सभी नस्ल, वतन, और क़ौम पर आधारित समाजों के विपरीत

एक वैचारिक, नैतिक तथा सैद्धान्तिक समाज का निर्माण करता है, जिसमें इनसानों का आपस में मिलने का आधार उनका जन्म नहीं बल्कि एक आस्था और एक आचार संहिता है । हर वह व्यक्ति जो ईश्वर को अपना मालिक व पूज्य माने और पैग़म्बरों द्वारा लाई हुई शिक्षा और मार्गदर्शन को अपने जीवन का क़ानून मान ले, इस समाज में शामिल हो सकता है, चाहे वह अफ्रीक़ा का रहनेवाला हो या अमेरिका का, चाहे वह सामी नस्ल का हो या आर्य नस्ल का, चाहे वह काला हो या गोरा, चाहे वह हिन्दी बोलता हो या अरबी । जो लोग भी इस समाज में सम्मिलित होंगे उन सबके अधिकार तथा सामाजिक स्तर बराबर होंगे । किसी भी प्रकार के जातीय, क़ौमी या वर्गीय भेद उनके बीच न होंगे । कोई ऊँचा या नीचा न होगा, कोई छूत-छात उनमें न होगी और किसी का हाथ लगने से कोई अपवित्र न होगा ।

शादी-विवाह, खान-पान तथा मेल-जोल में उनके बीच किसी प्रकार की बाधाएँ न होंगी । कोई अपने जन्म अथवा पेशे के आधार पर तुच्छ या हीन न होगा । किसी को अपनी जाति या गोत्र के आधार पर कोई विशेषाधिकार प्राप्त न हो सकेंगे । आदमी की श्रेष्ठता उसके गोत्र अथवा उसके धन के कारण न होगी बल्कि केवल इस कारण होगी कि उसका चरित्र अधिक ऊँचा है तथा वह दयालुता तथा ईशभय में अन्य लोगों से बढ़ा हुआ है ।

यह एक ऐसा समाज है जो जाति, रंग भाषा तथा भौगोलिक सीमाओं को तोड़कर धरती के प्रत्येक भाग में फैल सकता है तथा उसके आधार पर इनसानों की एक अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी की स्थापना हो सकती है । जाति तथा देश के आधार पर बने समाजों में तो केवल वे लोग सम्मिलित हो सकते हैं जो किसी जाति या देश में जन्मे हों । इससे बाहर के व्यक्तियों पर प्रत्येक ऐसे समाज का द्वार बन्द होता है । परन्तु इस वैचारिक तथा सैद्धान्तिक समाज में हर वह व्यक्ति समान अधिकारों सहित सम्मिलित हो सकता है जो एक अक़ीदे (आस्था) तथा एक आचार संहिता को माने । रहे वे लोग जो इस अक़ीदे और नियम को न मानें तो यह समाज उन्हें अपनी परिधि में नहीं लेता मगर इनसानी भाईचारे का सम्बन्ध उनके साथ जोड़े रखने तथा मानवाधिकार उन्हें देने के लिए तैयार है । स्पष्ट है कि अगर एक माँ के दो बच्चों के विचारों में अन्तर है तो उनके जीने के ढंग भी निश्चित रूप से अलग होंगे, मगर इससे उनके भाई होने का रिश्ता समाप्त नहीं हो जाएगा । ठीक इसी प्रकार मानव-जाति के दो गिरोह भी अगर आस्था तथा सिद्धान्त में अन्तर रखते हैं तो उनके समाज निश्चय ही अलग होंगे मगर हर हाल में मानवता उनके बीच उभयनिष्ठ (Common) रहेगी । इस उभयनिष्ठ मानवता के आधार पर अधिक

से अधिक जिन अधिकारों की कल्पना की जा सकती है वह सब इस्लामी समाज ने ग़ैर इस्लामी समाजों के लिए स्वीकार किए हैं ।

इस्लामी सामाजिक व्यवस्था की इन बुनियादों को समझ लेने के बाद आइए देखें कि वे क्या सिद्धान्त और तरीक़े हैं जो इस्लाम ने इनसानी मेल-मिलाप के विभिन्न रूपों के लिए बनाए हैं ।

मानवीय समाज की प्राथमिक और आधारभूत संस्था 'परिवार' है जिसकी आधारशिला एक पुरुष तथा एक स्त्री के मिलने से पड़ती है । इस मेल-मिलाप से एक नई पीढ़ी अस्तित्व में आती है। फिर उससे रिश्ते, नाते, कुटुम्ब और बिरादरी के दूसरे सम्बन्ध जन्म लेते हैं और अन्ततः यही चीज़ फैलते-फैलते एक समाज तक पहुँचती है । फिर परिवार ही वह संगठन है जिसमें एक पीढ़ी अपने बाद आने वाली पीढ़ी को मानव सभ्यता की विस्तृत सेवाएँ सम्भालने के लिए पूर्ण स्नेह, लगन और निस्वार्थ भाव से तैयार करती है । यह संस्था मानवीय संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए केवल नए दस्ते की भर्ती ही नहीं करती बल्कि उसके कार्यकर्ताओं की हार्दिक इच्छा यह रहती है कि उनका स्थान ग्रहण करनेवाले स्वयं उनसे बेहतर हों । अतः इस आधार पर वास्तव में परिवार ही इनसानी सभ्यता की जड़ है और इसी जड़ के स्वास्थ्य तथा शक्ति पर स्वयं सभ्यता तथा कल्चर का स्वास्थ्य तथा शक्ति निर्भर है । इसलिए इस्लाम सामाजिक समस्याओं में सर्वप्रथम इस बात की ओर ध्यान देता है कि परिवार रूपी संस्था को सही और मज़बूत बुनियादों पर स्थापित किया जाए ।

इस्लाम में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का सही रूप केवल वही है जिसके साथ सामाजिक उत्तरदायित्व भी स्वीकारा गया हो और जिसके फलस्वरूप एक परिवार की बुनियाद पड़े । उत्तरदायित्वरहित स्वच्छन्द सम्बन्धों को वह मात्र हल्के-फुल्के मनोरंजन या साधारण-सी पथभ्रष्टता समझकर टाल नहीं देता बल्कि उसकी दृष्टि में यह इनसानी सभ्यता की जड़ काट देनेवाला कार्य है इसलिए ऐसे सम्बन्धों को वह अवैध और क़ानूनी अपराध घोषित करता है । इसके लिए कठोर दण्ड निश्चित करता है ताकि सोसाइटी में ऐसे सभ्यता का विनाश करनेवाले सम्बन्ध प्रचलित न होने पाएँ और समाज को उन कारणों से पाक कर देना चाहता है जो उत्तरदायित्वरहित सम्बन्धों को प्रोत्साहित करते हैं अथवा उसके लिए अवसर प्रदान करते हैं । परदा सम्बन्धी आदेश, स्त्री-पुरुषों के आज़ादाना मेल-जोल की मनाही, संगीत तथा चित्रों पर पाबन्दी, अश्लीलता के प्रचार पर रुकावटें सब इसी चीज़ की रोकथाम के लिए हैं और इनका मुख्य उद्देश्य परिवार रूपी संस्था को सुरक्षित एवं सुदृढ़ रखना है । दूसरी ओर उत्तरदायित्वपूर्ण सम्बन्ध यानी निकाह (विवाह) को इस्लाम केवल वैध

ही घोषित नहीं करता बल्कि उसे एक नेकी और इबादत कहता है । वयस्क (बालिग़) होने के बाद स्त्री-पुरुष के अविवाहित रहने को नापसन्द करता है । प्रत्येक नवयुवक को इस बात के लिए प्रेरित करता है कि सभ्यता सम्बन्धी जिन ज़िम्मेदारियों का बोझ उसके माँ-बाप ने उठाया था, अपनी बारी आने पर वह भी उन्हें उठाए । इस्लाम संन्यास को नेकी नहीं समझता बल्कि उसे ईश्वरीय प्रकृति की अवहेलना मानता है । वह उन सभी रीति-रिवाज़ों को नापसन्द करता है जिनके कारण विवाह एक कठिन और भारी काम बन जाता है । उसके अनुसार समाज में विवाह सरलतम कार्य होना चाहिए ऐसा न हो कि विवाह कठिन हो जाए और ज़िना (व्यभिचार) आसान हो जाए । इसी लिए कुछ विशेष रिश्तों को छोड़कर शेष सभी दूर व निकट के संबंधियों में विवाह को जायज़ कर दिया है । जाति तथा बिरादरी सम्बन्धी भेदभाव उठाकर सभी मुसलमानों में आपस के विवाह की खुली अनुमति दे दी है । महर तथा दहेज इतने हल्के रखने का निर्देश दिया है जिन्हें दोनों पक्ष सरलता से वहन कर सकें । निकाह संस्कार हेतु किसी क़ाज़ी, पंडित, पुरोहित या दफ़्तर और रजिस्टर की कोई आवश्यकता नहीं रखी । इस्लामी समाज का निकाह एक ऐसी सादा-सी रस्म है जो कहीं भी दो गवाहों के सामने बालिग़ स्त्री-पुरुष की पारस्परिक स्वीकृति से हो सकता है मगर यह ज़रूरी है कि यह कार्य गुप्त न हो बल्कि बस्ती में एलान के साथ हो ।

इस्लाम ने पुरुष को परिवार के व्यवस्थापक या मुखिया की हैसियत दी है जिससे कि वह अपने घर में अनुशासन बना सके । पत्नी को पति की तथा सन्तान को माँ-बाप दोनों की सेवा व आज्ञापालन का आदेश दिया गया है । ऐसी ढीली पारिवारिक व्यवस्था को इस्लाम पसन्द नहीं करता जिसमें कोई अनुशासन तथा नियन्त्रण न हो और घरवालों के चरित्र तथा व्यवहार को ठीक-ठाक रखने का उत्तरदायित्व किसी पर न हो । व्यवस्था एक उत्तरदायी व्यवस्थापक ही स्थापित कर सकता है और इस्लाम की दृष्टि में इस उत्तरदायित्व के लिए बाप ही स्वाभाविक रूप से उपयुक्त है । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पुरुष को घर का तानाशाह तथा निरंकुश शासक बनाया गया है तथा स्त्री एक बेबस लौंडी की हैसियत से उसके हवाले कर दी गई है । इस्लाम की दृष्टि में दाम्पत्य जीवन की आत्मा प्रेम और दया भाव है । औरत का कर्त्तव्य अगर पति का आज्ञापालन है तो मर्द का भी कर्त्तव्य है कि अपने अधिकारों को सुधार के लिए इस्तेमाल करे न की ज़्यादती के लिए । इस्लाम एक दाम्पत्य सम्बन्ध को उसी समय तक जोड़े रखना चाहता है जब तक उसमें मुहब्बत की मिठास हो या कम से कम साथ निभाने की संभावना हो । जहाँ यह संभावना भी शेष न रहे वहाँ वह पुरुष को 'तलाक़' और स्त्री को 'ख़ुला' (पति परित्याग) का आदेश देता है । और कुछ परिस्थितियों में इस्लामी

अदालत को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह ऐसे निकाह को तोड़ दे जो दयालुता के बजाए अभिशाप बन गया हो ।

ख़ानदान की छोटी-सी परिधि के बाहर निकटतम सीमा रिश्तेदारी की है जिसका क्षेत्र काफ़ी विस्तृत होता है । जो लोग माँ-बाप के सम्बन्ध से या भाई-बहनों के सम्बन्ध से या ससुराली सम्बन्ध से एक दूसरे के रिश्तेदार हों इस्लाम उन सबको एक दूसरे का हमदर्द, मददगार और शुभचिन्तक देखना चाहता है । क़ुरआन में जगह-जगह रिश्तेदारों से अच्छा व्यवहार करने का आदेश दिया गया है । हदीस[1] में नातेदारी निभाने पर बहुत बल दिया गया है और उसे एक बड़ी नेकी बताया गया है । वह व्यक्ति इस्लाम की दृष्टि में अत्यन्त निकृष्ट है जो अपने सगे-संबंधियों के प्रति उदासीनता बरतें और बेवफ़ाई करे, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि रिश्तेदारों का अनुचित पक्ष लेना कोई इस्लामी काम है । अपने कुटुम्ब अथवा क़बीले का ऐसा समर्थन जो अन्यायपूर्ण हो इस्लाम के निकट अज्ञानता है । इसी प्रकार अगर हुकूमत का कोई अधिकारी जनता के लिए किए जानेवाले ख़र्च को भाई-भतीजों पर व्यय करने लगे अथवा अपने निर्णयों में अपने रिश्तेदारों का अनुचित पक्ष लेने लगे तो यह भी कोई इस्लामी कार्य नहीं है बल्कि एक शैतानी हरकत है । इस्लाम जिस नातेदारी को निभाने का हुक्म देता है वह अपने व्यक्तिगत साधनों के द्वारा तथा न्याय की सीमा के अन्तर्गत होना चाहिए ।

रिश्ते-नाते के सम्बन्धों के बाद दूसरा निकटतम सम्बन्ध पड़ोस का है । क़ुरआन के अनुसार पड़ोसियों के तीन प्रकार हैं— एक रिश्तेदार पड़ोसी, दूसरा अपरिचित पड़ोसी, तीसरा ऐसा अस्थाई पड़ोसी जिसके पास बैठने या साथ चलने का संयोग हुआ हो । ये सब इस्लामी आदेशों के अनुसार प्रेम, हमदर्दी और अच्छे सुलूक के अधिकारी हैं । हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) का कथन है कि मुझे पड़ोसी के अधिकारों की इतनी ताकीद की गई है कि मैं सोचने लगा कि शायद अब उसे विरासत में हिस्सेदार बना दिया जाएगा ।

आपके एक दूसरे कथन में है— "वह व्यक्ति ईमानवाला नहीं है जिसका पड़ोसी उसके दुर्व्यवहार के कारण परेशान हो ।" एक अन्य कथन में आपने फ़रमाया— "वह व्यक्ति ईमान नहीं रखता जो स्वयं तो पेट भरकर खाए और उसका पड़ोसी उसके पड़ोस में ही भूखा रहे ।" एक बार किसी ने अल्लाह के रसूल (सल्ल०) को बताया कि एक औरत ख़ूब नमाज़ पढ़ती है और अधिक रोज़े रखती है, दान पुण्य भी बहुत करती है मगर उसकी बदज़बानी से उसके पड़ोसी परेशान हैं; आपने

1. हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के कथन

फ़रमाया— "वह जहन्नमी (नरक में जानेवाली) है ।" लोगों ने बताया कि एक अन्य स्त्री है जिसमें ये गुण तो नहीं (नमाज़, रोज़ा, दान, पुण्य सम्बन्धी) मगर वह पड़ोसियों को दुख भी नहीं देती । आपने फ़रमाया— "वह जन्नती (स्वर्ग में जानेवाली) है ।"

हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) ने लोगों को यहाँ तक ताकीद की थी कि, "अपने बच्चों के लिए अगर फल लाओ तो या तो पड़ोसी के घर भी भेजो अन्यथा छिलके बाहर न फेंको ताकि ग़रीब पड़ोसी का दिल न दुखे ।" एक बार आपने फ़रमाया कि "अगर तेरे पड़ोसी तुझे अच्छा कहते हैं तो वास्तव में तू अच्छा है और अगर पड़ोसी की राय तेरे बारे में ख़राब है तो तू बुरा आदमी है ।" संक्षेप में, इस्लाम उन सब लोगों को जो एक-दूसरे के पड़ोसी हों आपस में हमदर्द, मददगार, सुख-दुख में भागीदार देखना चाहता है । उन सबके बीच ऐसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है कि वे एक दूसरे पर भरोसा करें और एक दूसरे के निकट अपनी जान, अपने माल और आबरू को सुरक्षित समझें । रहा वह समाज, जिसमें एक दीवार बीच रहनेवाले दो व्यक्ति वर्षों तक एक-दूसरे से अपरिचित रहें और जिसमें एक मुहल्ले के रहनेवाले दो व्यक्ति आपस में कोई लगाव, कोई हमदर्दी और कोई विश्वास न रखते हों तो ऐसा समाज किसी भी दशा में इस्लामी समाज नहीं हो सकता ।

इन निकटवर्ती सम्पर्कों के पश्चात सम्बन्धों का वह विशाल क्षेत्र सामने आता है जो पूरे समाज पर फैला हुआ है । इस क्षेत्र में इस्लाम हमारे सामाजिक जीवन को जिन प्रमुख सिद्धान्तों पर स्थापित करता है वह संक्षेप में निम्न हैं—

1. नेकी तथा संयम के कार्यों में सहयोग करो तथा बुराई और अत्याचार सम्बन्धी कार्यों में सहयोग न करो । (पवित्र क़ुरआन)

2. तुम्हारी मित्रता और शत्रुता ईश्वर के लिए होनी चाहिए । जो कुछ दो तो इसलिए दो कि ईश्वर को उसका देना प्रिय है और जो कुछ रोको तो इसलिए रोको कि ईश्वर को उसका देना पसन्द नहीं है । (हदीस)

3. तुम वह श्रेष्ठ गिरोह हो जिसे दुनिया के कल्याण हेतु उठाया गया है। तुम्हारा काम नेकी का हुक्म देना और बुराई को रोकना है । (पवित्र क़ुरआन)

4. आपस में अपने दिलों में एक दूसरे के लिए बुरा विचार मत रखो, एक दूसरे के मामलों की खोज-टोह में न रहो, एक के विरुद्ध दूसरे को न भड़काओ आपसी ईर्ष्या और द्वेष से बचो, एक दूसरे की काट न करो । अल्लाह के बन्दे बनकर और आपस में भाई-भाई बनकर रहो । (हदीस)

5. किसी को ज़ालिम समझते हुए उसका साथ न दो । (हदीस)

6. नाहक़ और अन्याय में अपनी क़ौम का पक्ष लेना ऐसा ही है जैसे तुम्हारा ऊँट कुएँ में गिरने लगे तो तुम भी उसकी दुम पकड़कर उसके साथ कुएँ में जा गिरो। (हदीस)

7. दूसरों के लिए वही पसन्द करो जो तुम स्वयं अपने लिए पसन्द करते हो। (हदीस)

4

इस्लाम की आर्थिक व्यवस्था

इनसान के आर्थिक जीवन को इनसाफ़ और सच्चाई पर बनाए रखने के लिए इस्लाम ने कुछ सिद्धान्त और सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं, ताकि धन की उत्पत्ति, उपयोग और वितरण (Circulation) की सम्पूर्ण व्यवस्था उन्हीं सीमा रेखाओं के अन्तर्गत चले जो उसके लिए खींच दी गई हैं।

धनोपार्जन की विधियाँ और उसके वितरण के रूप क्या हों, इस्लाम की इस प्रश्न से कोई रुचि नहीं है। ये चीज़ें तो विभिन्न युगों में सभ्यता के विकास के साथ-साथ बनती और बदलती रहती हैं। उनका निर्धारण मानव की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार ख़ुद ही हो जाता है। इस्लाम जो कुछ चाहता है वह यह है कि सभी युगों और परिस्थितियों में मानव की आर्थिक क्रियाएँ जो रूप भी धारण करें उनमें ये सिद्धान्त स्थायी रूप से लागू रहें और उन निर्धारित प्रतिबन्धों का अनिवार्यतः पालन किया जाए।

इस्लामी दृष्टिकोण से धरती तथा उसपर स्थित सभी चीज़ें ईश्वर ने मानव-जाति के लिए बनाई हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि धरती से अपनी आजीविका प्राप्त करने का यत्न करे। इस अधिकार में सभी मानव समान रूप से भागीदार हैं, किसी को इस अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता और न किसी को इस सम्बन्ध में दूसरों की तुलना में प्राथमिकता ही प्राप्त हो सकती है। किसी व्यक्ति या जाति या वर्ग पर ऐसा कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता जिससे वह आर्थिक संसाधनों में से कुछ को इस्तेमाल करने का अधिकारी ही न रहे, अथवा कुछ पेशों का द्वार उसके लिए बन्द कर दिया जाए। इसी प्रकार ऐसे भेद्रभाव भी धार्मिक नियम के आधार पर नहीं बरते जा सकते जिनके आधार पर किसी आर्थिक संसाधन या आजीविका के साधन पर किसी विशेष वर्ग या जाति या परिवार का एकाधिकार स्थापित हो जाए। ईश्वर की बनाई हुई धरती पर उसके पैदा किए हुए संसाधनों में से अपना हिस्सा हासिल करने की कोशिश करना सब इनसानों का समान अधिकार है। सभी को जीविकोपार्जन के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए।

प्रकृति की जिन नेमतों को उपयोगी बनाने में किसी के परिश्रम तथा योग्यता का प्रयोग न हो उन पर सभी लोगों को समान अधिकार प्राप्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि उनसे अपनी आवश्यकतानुसार लाभान्वित हो। नदियों

और झरनों का पानी, जंगल की लकड़ी, प्राकृतिक रूप से उगनेवाले पेड़ों के फल, स्वतन्त्ररूप से उगी घास और चारा, हवा, पानी, मरुभूमि के जानवर, धरती की सतह पर खुली हुई खानें आदि पर न तो किसी का एकाधिकार स्थापित हो सकता है और न ही ऐसे प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं कि आम जनता कुछ भुगतान किए बिना उनसे अपनी आवश्यकताएँ पूरी न कर सके । हाँ जो लोग व्यावसायिक उद्देश्य से बड़े पैमाने पर उनमें से किसी चीज़ को उपयोग में लाना चाहें तो उनपर टैक्स लगाया जा सकता है ।

ईश्वर ने जो चीज़ें इनसान के लाभ के लिए बनाई हैं उन्हें बेकार डाल देना उचित नहीं है । या तो उनसे स्वयं लाभ उठाओ या फिर दूसरों को लाभ उठाने के लिए छोड़ दो । इसी सिद्धान्त के आधार पर क़ानून यह निर्णय करता है कि कोई व्यक्ति अपनी भूमि को तीन वर्ष से अधिक अवधि तक बेकार नहीं रख सकता । यदि वह उसको कृषि या भवन निर्माण अथवा किसी दूसरे प्रयोजन में न लाए तो तीन वर्ष बीत जाने के पश्चात् वह परित्यक्त भूमि समझी जाएगी । अन्य कोई व्यक्ति उसे अपने काम में ले आए तो उसपर आपत्ति नहीं की जाएगी और इस्लामी प्रशासन को भी यह अधिकार होगा कि ऐसी भूमि किसी को आबंटित कर दे ।

जो व्यक्ति सीधे प्रकृति के ख़ज़ाने में से किसी चीज़ को लेकर अपने परिश्रम तथा अपनी योग्यता से उसको उपयोगी बनाए तो वह उस वस्तु का मालिक है । उदाहरणार्थ किसी बेकार पड़ी ज़मीन को जिसपर किसी का स्वामित्व साबित न हो, यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकार में लेकर किसी लाभकारी कार्य में इस्तेमाल करने लगे तो उसे बेदख़ल नहीं किया जा सकता । इस्लामी दृष्टिकोण के अनुसार दुनिया में स्वामित्व सम्बन्धी सभी अधिकारों की शुरुआत इसी प्रकार हुई है । पहले पहल जब पृथ्वी पर इनसानी आबादी आरम्भ हुई तो सभी चीज़ें सब लोगों के प्रयोग के लिए आम थीं । फिर जिस व्यक्ति ने किसी आम चीज़ को अपने अधिकार में लेकर किसी प्रकार उपयोगी बना लिया तो वह उसका मालिक हो गया । अर्थात् उसे यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह उसे अपने लिए आरक्षित कर ले और दूसरे लोग यदि उसको प्रयोग करना चाहें तो उनसे बदले में धन प्राप्त करे । यह चीज़ मनुष्य के सारे आर्थिक मामलों की स्वाभाविक बुनियाद है और इस बुनियाद को यथा स्थिति बना रहना चाहिए ।

शरीअत के वैध तरीक़ों से जो स्वामित्व का अधिकार संसार में किसी को प्राप्त हो वह हर हाल में आदर और सम्मान के योग्य है । विवाद अगर हो सकता है तो इस बात में हो सकता है कि कोई स्वामित्व शरीअत की दृष्टि में सही है या नहीं । जो स्वामित्व शरीअत के अनुसार नाजायज़ हों उन्हें बेशक समाप्त होना

चाहिए । परन्तु जायज़ स्वामित्व के सम्बन्ध में किसी हुकूमत या किसी विधान परिषद को उसे वापस लेने या मालिकों के इस्लामी अधिकारों में कमी-बेशी करने का अधिकार नहीं है । सामाजिक सुधार के नाम पर कोई ऐसी व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती जो 'शरीअत' के दिए हुए अधिकारों को कुचलनेवाली हो । समूह के लाभ के लिए व्यक्तियों (Individuals) की अधिकृत सम्पत्ति पर जो प्रतिबन्ध इस्लामी क़ानून ने स्वयं लगा दिए हैं उनमें कमी करना जितना बड़ा ज़ुल्म है उतना ही बड़ा ज़ुल्म उनमें वृद्धि करना भी है । इस्लामी हुकूमत का कर्त्तव्य है कि व्यक्तियों के शरीअत सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा करे और उनसे समाज के उन हक़ों को वसूल कर ले जो उनपर इस्लामी विधान (शरीअत) ने निश्चित किए हैं ।

ईश्वर ने साधनों के वितरण में समानता का लिहाज़ नहीं किया है बल्कि अपनी तत्वदर्शिता के आधार पर कुछ लोगों को कुछ दूसरे लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठता प्रदान की है । सौन्दर्य, स्वर माधुर्य, स्वास्थ्य, शारीरिक शक्तियाँ, मानसिक योग्यताएँ, जन्मगत वातावरण आदि सारे मनुष्यों को एक जैसे नहीं मिले । ऐसा ही मामला आजीविका का भी है । ईश्वर की बनाई हुई प्रकृति स्वतः इसकी अपेक्षा रखती है कि मानव के बीच उसकी आजीविका में अन्तर हो । अतः ऐसे सभी उपाय इस्लामी दृष्टिकोण से उद्देश्य और सिद्धान्त रूप में ग़लत हैं जो मानव के बीच एक कृत्रिम आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए अपनाए जाएँ । इस्लाम जिस समानता का पक्षधर है वह आजीविका में समानता नहीं बल्कि जीविकोपार्जन की दौड़-धूप के अवसरों में समानता है । इस्लाम चाहता है कि सोसाइटी में ऐसी क़ानूनी और सामाजिक प्रथा की बाधाएँ शेष न रहें जिनके आधार पर कोई व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुकूल आर्थिक दौड़-धूप न कर सकता हो । ऐसे भेदभाव भी न बने रहें जो कुछ विशेष वर्गों, जातियों, वंशों की जन्मजात वरिष्ठता को स्थायी कानूनी आरक्षणों में परिवर्तित कर देते हों । ये दोनों उपाय स्वाभाविक विषमता के स्थान पर ज़बरदस्ती एक कृत्रिम समानता स्थापित करते हैं । इसलिए इस्लाम उन्हें मिटाकर समाज की आर्थिक व्यवस्था को ऐसी प्राकृतिक अवस्था में ले आना चाहता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिए दौड़-धूप के द्वार खुले हों । मगर जो लोग चाहते हैं कि आर्थिक प्रयासों के साधनों तथा परिणामों में भी सभी लोगों को बलपूर्वक बराबर कर दिया जाए, इस्लाम उनसे सहमत नहीं है; क्योंकि वे स्वाभाविक और प्राकृतिक असमानता को कृत्रिम समानता में परिवर्तित करना चाहते हैं । प्रकृति और स्वभाव से निकटतम व्यवस्था वही हो सकती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में अपनी दौड़ का आरम्भ उसी स्थान और उसी अवस्था से करे जहाँ ईश्वर ने उसे पैदा किया है । जो मोटर लिए हुए आया है वह मोटर ही पर चले, जो केवल दो पैर लाया है वह पैदल ही चले, जो लंगड़ा पैदा हुआ है वह लंगड़ाकर

ही चलना आरम्भ करे। सोसाइटी का नियम न तो ऐसा होना चाहिए कि वह मोटरवाले का मोटर पर स्थायी एकाधिकार स्थापित कर दे और लंगड़े के लिए मोटर प्राप्त करना असम्भव बना दे और न ऐसा ही होना चाहिए कि सब की दौड़ ज़बरदस्ती एक स्थान और एक ही स्थिति से आरम्भ हो और आगे तक उन्हें अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ बांधकर रखा जाए। इसके विपरीत सामाजिक नियम-क़ानून ऐसे होने चाहिए जिनमें इस बात की निर्बाध संभावना मौजूद रहे कि जिसने लंगड़ाकर अपनी दौड़ आरम्भ की थी वह अपने परिश्रम और योग्यता के बल पर मोटर पा सकता हो तो अवश्य पाए और जो आरम्भ में मोटर पर चला था वह बाद में अपनी अक्षमता से यदि लंगड़ा होकर रह जाए तो रह जाए।

इस्लाम केवल इतना ही नहीं चाहता कि सामाजिक जीवन में यह आर्थिक दौड़ खुली और निष्पक्ष हो बल्कि यह भी चाहता है कि इस मैदान में दौड़नेवाले एक दूसरे के लिए निर्दयी और निष्ठुर न हों, हमदर्द और मददगार हों। इस्लाम एक ओर तो अपनी नैतिक शिक्षा से लोगों में यह भावना उजागर करता है कि वे अपने दबे और पिछड़े भाइयों को सहारा दें तथा दूसरी ओर वह माँग करता है कि सोसाइटी में एक स्थायी संस्था ऐसी मौजूद रहे जो अपंग और निराश्रित लोगों की सहायता का ज़िम्मा ले। जो लोग आर्थिक दौड़ में भाग लेने योग्य न हों वे इस संस्था से अपना हिस्सा पाएँ। जो लोग परिस्थिति और संयोगवश इस दौड़ में गिर पड़े हों उन्हें यह संस्था उठाकर फिर चलने योग्य बनाए और जिन लोगों को संघर्ष में उतरने के लिए सहारे की आवश्यकता हो उन्हें इस संस्था से सहारा मिले। इस उद्देश्य के लिए इस्लाम ने क़ानून के आधार पर यह निश्चित किया है कि देश के धन की कुल जमा राशि तथा सम्पूर्ण व्यापारिक पूँजी पर ढाई प्रतिशत वार्षिक ज़कात (Poor Due) वसूल की जाए। सभी कृषि-भूमि की उपज का पाँच या दस प्रतिशत, कुछ खनिज पदार्थों की उपज का बीस प्रतिशत भाग वसूल किया जाए। पशुओं की एक निश्चित संख्या में से एक निश्चित अनुपात में वार्षिक ज़कात निकाली जाए और यह सम्पूर्ण धन निर्धनों, अनाथों तथा असम्पन्न लोगों की सहायतार्थ इस्तेमाल किया जाए। यह एक ऐसा 'सामूहिक बीमा' है जिसकी उपस्थिति में इस्लामी सोसाइटी में कोई व्यक्ति जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं से कभी वंचित नहीं रह सकता। कोई श्रमिक कभी इतना मजबूर नहीं हो सकता कि भूखों मरने के डर से मज़दूरी की वही शर्तें मान ले जो फ़ैक्ट्री मालिक या ज़मींदार पेश कर रहा है। ज़कात की इस व्यवस्था की मौजूदगी में किसी व्यक्ति की शक्ति उस न्यूनतम स्तर से कभी नीचे नहीं गिर सकती जो आर्थिक दौड़ में भाग लेने के लिए आवश्यक है।

व्यक्ति तथा समाज के बीच इस्लाम ऐसा सन्तुलन स्थापित करना चाहता है

जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व तथा उसकी स्वतन्त्रता भी बनी रहे और समाजी हित के लिए वह स्वतन्त्रता हानिकारक भी न हो बल्कि अनिवार्यतः लाभदायक हो। इस्लाम किसी ऐसी राजनीतिक या आर्थिक व्यवस्था को पसन्द नहीं करता जो 'व्यक्ति' को 'समाज' में गुम कर दे और उसके लिए वह स्वतन्त्रता शेष न रहने दे जो उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए ज़रूरी है। किसी देश के उत्पादन के सभी साधनों के राष्ट्रीयकरण का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि देश के सभी 'व्यक्ति' 'समाज' के शिकंजे में जकड़ जाते हैं। इस स्थिति में उनकी वैयक्तिकता (Individuality) की रक्षा अत्यन्त कठिन बल्कि असम्भव है। वैयक्तिकता के लिए जिस प्रकार राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता ज़रूरी है, उसी प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता भी बड़ी हद तक ज़रूरी है। अगर हम 'मनुष्यता' को बिलकुल मिटाना नहीं चाहते तो हमारे सामूहिक जीवन में इतनी गुंजाइश अवश्य होनी चाहिए कि एक व्यक्ति अपनी आजीविका स्वतन्त्र रूप से कमाकर अपने आत्माभिमान और विवेक को अक्षुण्ण रख सके तथा अपनी मानसिक व नैतिक क्षमताओं को अपनी पसन्द के अनुसार विकसित कर सके। राशन की आजीविका, जिसकी कुंजियाँ दूसरों के हाथ में हों, अगर बहुतायत से भी मिले तो आनन्दमय कभी नहीं हो सकती, क्योंकि उससे व्यक्ति की उड़ान में जो बाधा आती है मात्र शारीरिक विकास से उसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती। जिस प्रकार इस्लाम ऐसी व्यवस्था को नापसन्द करता है उसी प्रकार वह किसी ऐसी सामूहिक व्यवस्था को भी अच्छा नहीं समझता जो व्यक्तियों को सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में बेलगाम स्वतन्त्रता देती है और उन्हें खुली छूट देती है कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति अथवा अपने हित के लिए समाज को जिस प्रकार चाहें हानि पहुँचाएँ। इन दोनों अतियों के बीच इस्लाम ने जो मध्यमार्ग अपनाया है वह यह है कि व्यक्ति को पहले तो सोसाइटी के लिए कुछ प्रतिबन्धों तथा कर्त्तव्यों का पालन करनेवाला बनाया जाए फिर उसे अपने मामलों में स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए। उन प्रतिबन्धों तथा कर्त्तव्यों का पूर्ण ब्योरा प्रस्तुत करने का यहाँ अवसर नहीं है। उनकी मात्र एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत है।

पहले जीविकोपार्जन को लीजिए। धन कमाने के साधनों में इस्लाम ने जितनी बारीकी से उचित-अनुचित का वर्गीकरण किया है, उतना विश्व के किसी अन्य क़ानून ने नहीं किया है। वह चुन-चुनकर ऐसे सभी साधनों को अवैध घोषित करता है जिनके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों अथवा कुल मिलाकर सम्पूर्ण समाज को नैतिक अथवा भौतिक हानि पहुँचाकर अपनी रोज़ी कमाता है। शराब और नशीली वस्तुओं का उत्पादन व विक्रय, अश्लीलता, नाच-गाने का पेशा, जुआ, सट्टा, लाटरी, ब्याज, अनुमान और धोखे व झगड़े के सौदे; ऐसे सभी व्यापारिक तरीक़े जिनमें एक पक्ष का लाभ निश्चित तथा दूसरे का संदिग्ध हो; आवश्यक

वस्तुओं को रोककर उनके मूल्य बढ़ाना और ऐसे ही अन्य सभी कारोबार जो समाज के लिए हानिप्रद हैं, इस्लामी क़ानून में बिलकुल अवैध घोषित कर दिए गए हैं । इस मामले में अगर आप इस्लाम के आर्थिक नियमों का निरीक्षण करें तो अवैध रीतियों की एक लम्बी सूची आपके सामने आएगी, जिसमें से बहुत-सी रीतियाँ, आपको मिलेंगी जिनको अपनाकर ही वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में लोग करोड़पति बनते हैं । इस्लाम उन सब तरीक़ों को क़ानून के द्वारा बन्द करता है, और आदमी को केवल उन रीतियों से धन कमाने की अनुमति देता है जिनसे वह दूसरों की कोई वास्तविक और लाभदायक सेवा करके न्याय के साथ उसका मूल्य प्राप्त करे ।

वैध साधनों से अर्जित धन पर इस्लाम व्यक्ति के स्वामित्व के अधिकार को मान्यता देता है परन्तु ये अधिकार असीमित नहीं हैं । वह आदमी को पाबंद करता है कि अपनी वैध कमाई को केवल उचित मदों में ही व्यय करे । व्यय पर इस्लाम ने ऐसे प्रतिबंध लगा दिए हैं जिनके फलस्वरूप एक व्यक्ति साफ़-सुथरा जीवन तो व्यतीत कर सकता है परन्तु अय्याशियों में दौलत नहीं उड़ा सकता । न शान दिखाने में इतना सीमा से आगे बढ़ सकता है कि दूसरों पर उसके प्रभुत्व का सिक्का चलने लगे । अपव्यय की कुछ मदों की तो इस्लामी क़ानून में स्पष्ट रूप से मनाही कर दी गई है और कुछ अन्य प्रकारों का यद्यपि स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है परन्तु इस्लामी हुकूमत को यह अधिकार प्राप्त है कि अपने निजी धन के अनुचित प्रयोग से लोगों को बलपूर्वक रोक दे ।

वैध और उचित व्यय के पश्चात् जो दौलत आदमी के पास बच जाए उसे वह जमा भी कर सकता है और उसे पुनः धनोपार्जन में भी लगा सकता है । मगर इन दोनों अधिकारों पर भी पाबन्दियाँ हैं । धन जमा करने की स्थिति में प्रतिबन्ध यह है कि यदि जमा राशि एक निर्धारित सीमा से बढ़ जाती है तो उसपर ढाई प्रतिशत वार्षिक 'ज़कात' देनी होगी । व्यवसाय में लगाना चाहे तो केवल वैध कारोबार में ही लगा सकता है । वैध कारोबार चाहे स्वयं करें या किसी दूसरे को अपनी पूँजी, नक़द या भूमि या मशीनों आदि के रूप में देकर लाभ-हानि में साझेदार बन सकता है । ये दोनों तरीक़े जायज़ है । इन सीमाओं के अन्दर कार्य करके यदि कोई व्यक्ति करोड़पति बन जाए तो इस्लाम में कोई आपत्तिजनक चीज़ नहीं है, बल्कि ईश्वर का पुरस्कार है । परन्तु सामाजिक हित के लिए वह इस पर दो प्रतिबन्ध लगाता है । एक यह कि वह अपने व्यापारिक स्टाक और कृषि उपज पर ज़कात दे । दूसरे यह कि वह अपने व्यवसाय या उद्योग या कृषि कार्य में जिन लोगों के साथ साझेदारी या मज़दूरी का मामला करे उनसे न्यायपूर्ण मामला करे । यदि वह स्वयं यह न्याय न करेगा तो इस्लामी हुकूमत उसे न्याय के लिए विवश

कर देगी ।

फिर जो धन इन जायज़ तरीक़ों से इकट्ठा हो उसको भी इस्लाम अधिक समय तक केन्द्रित नहीं रहने देता, बल्कि अपने विरासत सम्बन्धी क़ानून के द्वारा उसे हर पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में फैला देता है । इस बारे में इस्लामी क़ानून का रुझान संसार के दूसरे सभी क़ानूनों के रुझानों से भिन्न है । दूसरे क़ानून प्रयास करते हैं कि जो धन एक बार सिमट चुका है वह पीढ़ी दर पीढ़ी एक जगह इकट्ठा रहे । इसके विपरीत इस्लाम ऐसा क़ानून बनाता है कि जो दौलत एक व्यक्ति ने अपने जीवन में इकट्ठी की हो वह उसके मरते ही उसके निकट संबंधियों में बाँट दी जाए । निकट सम्बन्धी न हों तो दूर के रिश्तेदार अपने हिस्से के अनुसार उसके उत्तराधिकारी हों और अगर कोई दूर-दराज़ के रिश्तेदार भी न हों तो फिर मुस्लिम सोसाइटी उसकी हक़दार है । यह क़ानून किसी बड़ी सरमायादारी और ज़मींदारी को स्थायी और सुरक्षित नहीं रहने देता । पिछली सारी पाबन्दियों के बाद भी अगर धन के केन्द्रीकरण से कोई ख़राबी पैदा हो भी जाए तो उत्तराधिकार सम्बन्धी यह आख़िरी चोट उसे दूर कर देती है ।

—◆—

5

इस्लाम की आध्यात्मिक व्यवस्था

इस्लाम की आध्यात्मिक व्यवस्था क्या है और सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था से उसका क्या संबंध है ? इस प्रश्न को समझने के लिए ज़रूरी है कि पहले हम आध्यात्म की इस्लामी अवधारणा तथा अन्य धर्मों और दार्शनिक प्रणालियों की अवधारणाओं के अन्तर को समझ लें । यह अन्तर स्पष्ट न होने के कारण अधिकतर ऐसा होता है कि इस्लाम की आध्यात्मिक व्यवस्था पर चर्चा करते हुए आदमी के दिमाग़ में बिना इरादे के वह अवधारणाएँ घूमने लगती हैं जो प्रायः 'रूहानियत' या 'अध्यात्म' शब्द के साथ जुड़ गई हैं । फिर इस उलझन में पड़कर आदमी के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि इस्लाम की यह आध्यात्मिक व्यवस्था किस प्रकार की है जो आत्मा के जाने-पहचाने क्षेत्र से निकलकर भौतिकता तथा शारीरिक क्षेत्र में दख़ल देती है और केवल दख़ल ही नहीं देती बल्कि उसपर शासन करना चाहती है ।

दर्शन और धर्म की दुनिया में साधारणतया जो विचार पाया जाता है वह यह है कि आत्मा और शरीर एक दूसरे के प्रतिरोधी हैं, दोनों की दुनिया अलग-अलग हैं, दोनों की माँगें अलग बल्कि परस्पर विरोधी हैं । इन दोनों का विकास एक साथ संभव नहीं है । आत्मा के लिए शरीर और पदार्थ की दुनिया एक बन्दीगृह है । सांसारिक जीवन के संबंध और आकर्षण वे हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ हैं जिनमें आत्मा जकड़ जाती है । दुनिया के कारोबार और क्रियाएँ वह दलदल है जिसमें फँसकर आत्मा की उड़ान समाप्त हो जाती है । इस सोच का अनिवार्यतः परिणाम यह हुआ कि आध्यात्मिकता तथा सांसारिकता के मार्ग एक दूसरे से बिलकुल अलग हो गए । जिन लोगों ने दुनियादारी अपनाई वह पहले पग पर ही निराश हो गए कि यहाँ रूहानियत उनके साथ न चल सकेगी । इस चीज़ ने उन्हें भौतिकता में डुबो दिया । जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक तात्पर्य यह कि सांसारिक जीवन के सारे अंग अध्यात्म के प्रकाश से वंचित रह गए । परिणामस्वरूप पृथ्वी अत्याचार से भर गई । दूसरी ओर जो लोग अध्यात्म प्रेमी हुए उन्होंने अपने आत्मिक उत्थान के लिए ऐसे मार्ग चुने जो दुनिया के बाहर ही बाहर से निकल जाते हैं, क्योंकि उनके दृष्टिकोण से आत्मिक उन्नति का कोई ऐसा मार्ग संभव ही न था जो दुनिया के अन्दर से होकर गुज़रता हो । उनके निकट आत्मा की उन्नति के लिए शरीर को कमज़ोर करना ज़रूरी था इसलिए उन्होंने ऐसी तपस्याएँ

ईजाद कीं जो नफ़्स (वासना) को मारने और शरीर को चेतनाशून्य और बेकार कर देनेवाली हों । तपस्या के लिए उन्होंने जंगलों, पहाड़ों और एकान्तवास को अत्यन्त उपयुक्त स्थान समझा ताकि आबादी का कोलाहल ज्ञान-ध्यान में विघ्न न डालने पाए । आत्मिक विकास के लिए उन्हें इसके अतिरिक्त कोई उपाय न सूझा कि संसार तथा उसकी गतिविधियों से हाथ खींच लें तथा उन सभी संबंधों को काट फेंकें जो उन्हें भौतिक संसार से जोड़े हुए हैं ।

शरीर और आत्मा के इस परस्पर विरोध ने इनसान के लिए उन्नति के शिखर के दो भिन्न-भिन्न अर्थ एवं लक्ष्य प्रस्तुत कर दिए । सांसारिक जीवन की उन्नति का सर्वोच्च बिन्दु यह निश्चित हुआ कि इनसान केवल भौतिक सुख-सुविधाओं से मालामाल हो, और अन्तिम लक्ष्य यह ठहरा कि मनुष्य एक अच्छा पक्षी, एक बढ़िया मगरमच्छ, एक श्रेष्ठ घोड़ा और एक सफल भेड़िया बन जाए । दूसरी ओर आध्यात्मिक जीवन की ऊँचाई यह तय हुई कि इनसान कुछ अलौकिक शक्तियों का मालिक बन जाए और लक्ष्य यह ठहरा कि एक अच्छा रेडियो सेट, एक शक्तिशाली दूरबीन और एक बढ़िया माइक्रोस्कोप बन जाए अथवा उसकी नज़र और उसके शब्द एक पूर्ण औषधालय का काम देने लगें ।

इस्लाम का दृष्टिकोण इस मामले में दुनिया की सभी धार्मिक व दार्शनिक व्यवस्थाओं से भिन्न है । वह कहता है कि इनसानी आत्मा को ईश्वर ने धरती पर अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया है । कुछ कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व उसे सौंपे हैं और उनको पूरा करने के लिए श्रेष्ठतम एवं उपयुक्ततम शारीरिक संरचना प्रदान की है । यह शरीर उसको दिया ही इसलिए गया है कि वह अपने अधिकारों के प्रयोग तथा अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह में उससे काम ले । इसलिए यह शरीर आत्मा के लिए जेल नहीं बल्कि उसका कारख़ाना है और यदि आत्मा का कोई विकास संभव है तो वह इसी प्रकार कि इस कारख़ाने के औज़ारों तथा ऊर्जा का उपयोग करके अपनी योग्यताओं का प्रदर्शन करे । फिर यह दुनिया कोई यातनागृह भी नहीं है जिसमें इनसानी आत्मा किसी प्रकार आकर फँस गई हो; बल्कि यह तो वह कर्मस्थली है जिसमें काम करने के लिए ईश्वर ने उसे भेजा है । यहाँ कि अनगिनत चीज़ें उसके अधीन कर दी गई हैं । यहाँ दूसरे बहुत-से इनसान इसी ख़िलाफ़त (प्रतिनिधित्व) के कर्तव्य निभाने के लिए उसके साथ पैदा किए गए हैं । यहाँ प्रकृति की माँगों से सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा जीवन के अन्य विभाग उसके लिए अस्तित्व में आए हैं । यहाँ अगर कोई रूहानी तरक़्क़ी संभव है तो उसका उपाय यह नहीं है कि आदमी इस कर्मस्थली से मुख मोड़कर किसी एकान्त में जा बैठे, बल्कि उसका उपाय यह है कि वह इसके अन्दर कार्य करके अपनी योग्यता

का परिचय दे। यह उसके लिए परीक्षा-भवन है। जीवन का प्रत्येक पक्ष परीक्षा के प्रश्न-पत्र के समान है। घर, मुहल्ला, बाज़ार, मंडी, दफ़्तर, कारख़ाना, पाठशाला, कचहरी, थाना, छावनी, पार्लियामेन्ट, अमन कान्फ्रेन्स, (शांति सम्मेलन) और युद्ध के मैदान सब विभिन्न विषयों के प्रश्न पत्र हैं जो उसे करने के लिए दिए गए हैं। वह अगर उनमें से कोई प्रश्न पत्र न करे या अधिकतर विषयों की उत्तरपुस्तिका ख़ाली छोड़ दे तो परीक्षाफल में शून्य के अतिरिक्त और क्या पा सकता है? सफलता और उन्नति की संभावना अगर हो सकती है तो इसी तरह कि वह अपना सारा समय और पूरा ध्यान परीक्षा देने पर केन्द्रित करे और जितने पर्चे भी उसे दिए जाएँ उन सबमें कुछ न कुछ करके दिखाए।

इस प्रकार इस्लाम 'संन्यास' के विचार को रद्द कर देता है और मानव के लिए आत्मिक उत्थान का मार्ग दुनिया के बाहर से नहीं बल्कि दुनिया के अन्दर से निकालता है। आत्मा की उन्नति, विकास और सफलता प्राप्ति का वास्तविक स्थान उसके अनुसार जीवन की गतिविधियों के ठीक बीच में है, न कि उसके किनारे पर।

अब हमें यह देखना चाहिए कि इस्लाम हमारी आत्मा की उन्नति और अवनति की क्या कसौटी प्रस्तुत करता है? इसका उत्तर उसी ख़िलाफ़त की धारणा में मौजूद है जिसका अभी उल्लेख किया गया है। ख़लीफ़ा या प्रतिनिधि होने की हैसियत से इनसान अपने जीवन के सभी कार्यों के लिए ख़ुदा के सामने जवाबदेह है। उसका कर्त्तव्य यह है कि धरती पर उसे जो अधिकार और साधन दिए गए हैं उन्हें ख़ुदा की मरज़ी के अनुसार इस्तेमाल करे। जिन विभिन्न संबंधों और सम्पर्कों में दूसरे इनसानों के साथ उसे जोड़ा गया है उनमें ऐसा रवैया अपनाए जो ईश्वर को पसन्द है और कुल मिलाकर अपने सभी प्रयास और परिश्रम धरती की व्यवस्था को इतना उत्तम बनाने में लगा दे जितना उसका ईश्वर देखना चाहता है। इस सेवा को इनसान जितना अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से आज्ञाकारिता एवं मालिक की प्रसन्नता हेतु सम्पन्न करेगा उतना ही अधिक ईश्वर के निकट होगा और ईश्वर की निकटता ही इस्लाम की दृष्टि में आत्मिक उन्नति है। इसके विपरीत वह जितना आलसी, कामचोर और कर्त्तव्य विमुख होगा या जितना उद्दंड, विद्रोही और अवज्ञाकारी होगा उतना ही वह ईश्वर से दूर होगा और ईश्वर से दूरी ही का नाम इस्लाम की भाषा में 'आत्मिक अवनति' है।

इस व्याख्या से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस्लामी दृष्टिकोण से दीनदार (धर्मपरायण) और दुनियादार दोनों का कार्यक्षेत्र एक ही है और एक ही कर्मस्थली है जिसमें दोनों कार्य करेंगे। बल्कि धार्मिक व्यक्ति सांसारिक व्यक्ति से भी अधिक

तन्मयता से व्यस्त होगा । घर की चारदीवारी से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के मंच तक जितने भी जीवन सम्बन्धी मामले हैं उन सबकी ज़िम्मेदारियाँ धर्मपरायण व्यक्ति भी दुनियादार के बराबर बल्कि उससे कुछ बढ़कर ही अपने हाथों में ले लेगा । हाँ, जो चीज़ उन दोनों के मार्ग अलग करेगी वह ईश्वर के साथ उनके सम्बन्धों की विशेषता है । धर्मपरायण व्यक्ति जो कुछ भी करेगा इस भावना के साथ करेगा कि वह ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, इस उद्देश्य से करेगा कि उसे ईश-प्रसन्नता प्राप्त हो और उस क़ानून के अनुसार करेगा जो ईश्वर ने उसके लिए बना दिए हैं । इसके विपरीत सांसारिकता धारण करनेवाला जो कुछ करेगा अनुत्तरदायी ढंग से करेगा, ईश्वर से विमुख होकर करेगा और अपने मनमाने ढंगों से करेगा । यही अन्तर धार्मिक व्यक्ति के सम्पूर्ण भौतिक जीवन को पूर्ण आध्यात्मिक बना देता है और सांसारिकता धारण करनेवाले व्यक्ति के संपूर्ण जीवन को अध्यात्म के प्रकाश से वंचित कर देता है ।

अब मैं संक्षेप में आपको बताऊँगा कि इस्लाम सांसारिक जीवन के बीच से इनसान के आत्मिक उत्थान का मार्ग किस प्रकार बनाता है ।

1. इस मार्ग का प्रथम चरण ईमान है, जिसका आशय यह है कि आदमी के मन-मस्तिष्क में यह बात बैठ जाए कि ईश्वर ही उसका मालिक, शासक, और पूज्य है । ईश-प्रसन्नता ही उसके सारे प्रयत्नों का मूल उद्देश्य हो और ईश्वर का आदेश ही उसके जीवन का विधान हो । यह विचार जितना अधिक दृढ़ और पक्का होगा उतनी ही अधिक इस्लामी मानसिकता पूर्णता लिए हुए होगी और उतने ही स्थायित्व और दृढ़ निश्चय के साथ इनसान आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर चल सकेगा ।

2. इस रास्ते की दूसरी मंज़िल आज्ञापालन है । अर्थात् मनुष्य का व्यवहारतः अपनी स्वतन्त्रता को त्याग देना और उस ईश्वर के प्रति व्यावहारिक रूप से समर्पित हो जाना जिसे वह धारणा के रूप में अपना ईश्वर मान चुका है । इसी आज्ञापालन और समर्पण का नाम क़ुरआन की शब्दावली में 'इस्लाम' है ।

3. तीसरी मंज़िल तक़वा (ईशभय) की है जिसे साधारण भाषा में कर्त्तव्यपरायण और उत्तरदायित्व की भावना से व्यक्त करते हैं । ईशभय यह है कि आदमी अपने जीवन के प्रत्येक पहलू में यह समझते हुए कार्य करे कि उसे अपनी विचारधाराओं, कथनों और कर्मों का हिसाब ईश्वर को देना है । हर उस काम से रुक जाए जिससे ख़ुदा ने मना किया है, हर उस सेवा के लिए तत्पर हो जाए जिसका ख़ुदा ने हुक्म दिया है और पूर्ण विवेकशील ढंग से वैध-अवैध, सही-ग़लत और भलाई-बुराई के बीच अन्तर करके जीवन व्यतीत करे ।

4. अंतिम और सबसे ऊँची मंज़िल 'एहसान' (अति उत्तम आचरण) की है। एहसान का अर्थ यह है कि मनुष्य की इच्छा ईश्वर की इच्छा के साथ एकाकार हो जाए। जो कुछ ईश्वर की पसन्द है वही उसके दास की अपनी पसन्द भी हो और जो कुछ ईश्वर को नापसन्द है, दास का अपना दिल भी उसे नापसन्द करे। ईश्वर जिन बुराइयों को अपनी धरती पर देखना नहीं चाहता मनुष्य न केवल यह कि स्वयं उनसे बचे बल्कि उन्हें दुनिया से मिटा देने के लिए अपनी सम्पूर्ण क्षमताएँ और सभी साधन लगा दे। ईश्वर जिन भलाइयों से अपनी धरती को सुसज्जित देखना चाहता है, मनुष्य उनको अपने जीवन में अपनाने तक ही सीमित न रहे बल्कि अपनी जान लड़ाकर दुनियाभर में उन्हें फैलाने और स्थापित करने का प्रयास करे। इस स्थान पर पहुँचकर मनुष्य को अपने ईश्वर का निकटतम सामीप्य प्राप्त होता है और इसी लिए यह इनसान की आत्मिक उन्नति और विकास का उच्चतम शिखर है।

आध्यात्मिक उन्नति का यह रास्ता व्यक्तियों के लिए ही नहीं बल्कि वर्गों और समूहों के लिए भी है। एक व्यक्ति की भाँति एक क़ौम (राष्ट्र) भी ईमान, आज्ञापालन और ईशभय की मंज़िलों से गुज़रकर एहसान की सर्वोच्च मंज़िल तक पहुँच सकती है और एक राज्य भी अपनी पूर्ण व्यवस्था के साथ ईमानवाला, इस्लाम का अनुगामी, ईशभय धारण करनेवाला और एहसानवाला बन सकता है। बल्कि वास्तव में इस्लाम का उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है जब एक पूरी क़ौम इसी मार्ग पर चले और दुनिया में एक ईशभय रखनेवाला उत्तम आचरण से सुसज्जित राज्य स्थापित हो जाए।

अब आध्यात्मिक प्रशिक्षण की उस व्यवस्था को भी देख लिया जाए जो व्यक्ति और समाज को इस रूप में तैयार करने के लिए इस्लाम ने पेश की है। इस व्यवस्था के चार स्तंभ हैं—

(1) पहला स्तंभ नमाज़ है। यह प्रतिदिन पाँच बार आदमी के मस्तिष्क में ख़ुदा की याद को ताज़ा करती है, उसका भय दिलाती है, उसका प्रेम पैदा करती है, उसके आदेश बार-बार सामने लाती है और उसके आज्ञापालन का अभ्यास कराती है। यह नमाज़ केवल व्यक्तिगत नहीं है बल्कि सामूहिकता के साथ अनिवार्य की गई ताकि पूरी सोसाइटी सामूहिक रूप से आध्यात्मिक उन्नति के इस मार्ग पर चलने के लिए तैयार हो जाए।

(2) दूसरा स्तंभ रोज़ा है जो हर वर्ष पूरे एक माह तक मुसलमान व्यक्ति को अलग-अलग और मुस्लिम सोसाइटी को सामूहिक रूप से ईशभय का प्रशिक्षण देता रहता है।

(3) तीसरा स्तंभ ज़कात है जो मुसलमान व्यक्तियों में आर्थिक त्याग भाव,

आपसी हमदर्दी और मदद की भावना उत्पन्न करती है । आजकल के लोग भ्रमवश ज़कात को कर (Tax) के अर्थ में लेते हैं, जबकि 'ज़कात' की आत्मा कर की आत्मा से सर्वथा भिन्न है । ज़कात का मूल शाब्दिक अर्थ वृद्धि विकास और शुद्धता है । इस शब्द से इस्लाम आदमी के मन में यह तथ्य बैठाना चाहता है कि अल्लाह की मुहब्बत में अपने भाइयों की तुम जो आर्थिक सहायता करोगे, उससे तुम्हारा आत्मिक उत्थान होगा और तुम्हारे आचरण में पवित्रता और शुद्धता आएगी ।

(4) चौथा स्तंभ हज है । यह ईशभक्ति की धुरी पर ईमानवाले और आस्थावान मनुष्यों की एक अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी बनाता है और एक ऐसा विश्वव्यापी आन्दोलन चलाता है जो दुनिया में सदियों से 'सत्य' के आह्वान पर एक जुटता का ऐलान कर रहा है और ईश्वर ने चाहा तो रहती दुनिया तक वह ऐलान करता रहेगा ।

—◆—